सप्रेम भेंट

कान्ती माथुर

★ ओ३म् ★

श्रीमद्भगवद्गीता भाषा

अठारह अध्याय माहात्म्य सहित

लेखक :—

श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज सरस्वती

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते । क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

श्रीमद्भगवद्गीता के पाठ की रीति

श्रीमद्भगवद्गीता का पुण्यरूप पाठ करने वाले स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि वे इस पावन पाठ को एकाग्र मन से किया करें और इस के सरस सार को समझने में अधिक समय लगायें। इस के प्रत्येक पाठक को उचित है कि वह अपनी ऐसी धारणा बनाये कि मैं अर्जुन हूं और मुझ में पाप, अपराध, अकर्मण्यता, कर्तव्यहीनता, कायरता और दुर्बलता आदि जो भी दुर्गुण हैं उन को जीतने के लिए श्री कृष्ण भगवान् मुझे ही उपदेश दे रहे हैं, महाराज मेरे ही आत्मा की अमर सत्ता को जगा रहे हैं, मेरे ही चैतन्य स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं और आलस्य-रहित हो कर, समबुद्धि से स्वकर्तव्य कर्म करने को मुझे ही प्रेरित, उत्तेजित तथा उत्साहित करने में तत्पर हैं। श्री भगवान् का मैं ही प्रिय शिष्य हूं, परमप्रिय भक्त हूं, श्रद्धालु श्रोता हूं। ऐसे उत्तम विचारों से गीता का पाठक भगवान् की कृपा का पात्र बन जाता है और उस में गीता का सार सहज से समाने लग जाता है।

भगवान् ने श्रीमुख से स्वयं कहा है कि गीता का पाठ करना और उस को सुनना सुनाना ज्ञान-यज्ञ है, उस से मैं पूजा जाता हूं। पाठक को चाहिए कि वह एक
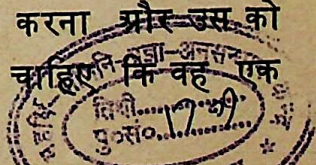
विश्वासी और श्रद्धावान् यजमान बन कर बड़े गम्भीर भाव से इस यज्ञ को किया करे और इस को परमेश्वर का पुण्यरूप परम पूजन ही समझे। इस भावना से गीता का ज्ञान, पाठक के हृदय में, आप ही आप प्रकाशित होने लग जाया करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के माहात्म्य

श्रीमद्भगवद्गीता, हिन्दुओं के ज्ञाननिधि में एक महामूल्य चिन्तामणि रत्न है, साहित्य-सागर में अमृत-कुम्भ है और विचारों के उद्यान में कल्पतरु है। सत्य पथ के प्रदर्शित करने के लिए, संसार भर में गीता एक अद्वितीय और अद्भुत ज्योति-स्तम्भ है।

श्रीमद्भगवद्गीता में सांख्य, पातञ्जल और वेदान्त का समन्वय है। इस में ज्ञान, कर्म और भक्ति की अपूर्व एकता है, आशावाद का निराला निरूपण है, कर्तव्य कर्म का उच्चतर प्रोत्साहन है और भक्ति-भाव का सर्वोत्तम प्रकार से वर्णन है। श्रीमद्भगवद्गीता तो आत्म-ज्ञान की गंगा है। इस में पाप, दोष की धूल को धो डालने के परम पावन उपाय बताये गये हैं। कर्म-धर्म का, बन्ध-मोक्ष का इस में बड़ा उत्तम निर्णय किया गया है। गीता,
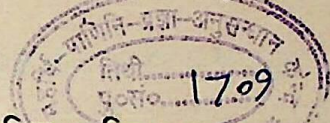
भगवान् के सारमय, रसीले गीत हैं जिन में उपनिषदों के भावों सहित, भक्ति-भाव भरपूर समाया हुआ है और वेद का मर्म भी आ गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में नारायणी गीता का भी पूरा प्रतिबिम्ब विद्यमान है। इस का अपना मौलिकपन भी महामधुर और मनोमोहक है। संक्षेप से कहा जाय तो यह सत्य है कि भगवान् श्री कृष्ण ने ज्ञान के सागर को गीता-गागर में पूर्ण-रूप में भर दिया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोग की बड़ी महिमा है। कर्मों के फलों में आशा न लगा कर कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करना कर्मयोग है। कर्तव्यों को करते हुए मोह में, ममता में तथा लालसा आदि में मग्न न हो जाना अनासक्ति है। अपने सारे कर्मों को, अपने ज्ञान-विज्ञान, तर्क-वितर्क और मतामतसहित, मन, वचन, काया से श्री भगवान् की शरण में समर्पण कर देना, कर्तापन का अभिमान न करना और अपने आप सहित कर्ममात्र को विधाता की भक्ति की वेदी पर बलि बना देना भक्तिमय कर्मयोग है; यही सच्चा संन्यास है। श्री कृष्ण के समय में लोग ज्ञान और संन्यास को मतरूप से मानते थे और कर्म की निन्दा किया करते थे। इस लिए श्री महाराज ने कर्तव्य-पालन पर अधिक बल दिया है और कर्मत्याग का निषेध

किया है ।

श्री कृष्ण भगवान् के श्रीमद्भगवद्गीतारूप गीत बड़े सरल, अतिशय सुन्दर, बहुत ही बलाढ्य, अतीव सार-गर्भित और अत्यन्त उत्तम हैं । उन में सत्य का और तत्त्वज्ञान का निरूपण अत्युत्तम प्रकार से किया गया है । उन के श्रवण, पठन, मनन और निश्चय करने से मनुष्य का अन्तरात्मा अवश्यमेव जग जाता है, उस के चिदाकाश में सत्य के सूर्य का प्रकाश अवश्य ही चमक उठता है और उस का परम कल्याण होने में सन्देह तक नहीं रह जाता । गीता के उपदेशामृत को भावना-सहित पान कर लेने से भगवद्भक्त को परमेश्वर का परम धाम आप ही आप सुगमता से प्राप्त हो जाता है । श्रीमद्भगवद्गीता का यह माहात्म्य महत्त्वपूर्ण है कि इस को जीवन में बसाने से और कर्मों में ले आने से मनुष्य का व्यक्ति-गत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन उन्नत हो कर उस का यह लोक सुधर जाता है और साथ ही आत्मा-परमात्मा का शुद्ध बोध हो जाने से उस की जन्म-बन्ध से मुक्ति भी हो जाती है ।

❀ ओं तत्सत् ❀

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र ने पूछा, संजय !

जिस देश में दान-पुण्य, यजन-याजन, व्रत, जप-तप, संयम, आराधन, चिन्तन-ध्यान, वेद-शास्त्र का पठन-पाठन आदि धर्म का पालन होता रहता है, ऐसे—धर्मक्षेत्र रूपी कुरुक्षेत्र में, (कुरुवंश के देश में) लड़ने की इच्छा से एकत्रित हुए, मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ? ॥१॥ उत्तर में संजय ने कहा, हे धृतराष्ट्र ! कूटनीति से अथवा कष्ट से युद्ध करने वाला तेरा पुत्र, राजा दुर्योधन, उस समय

व्यूह रचना से सजी हुई पाण्डवों की सेना को देख कर बड़ी (व्याकुलता से) द्रोणाचार्य के पास जाकर ये वचन बोला ॥२॥

मेरे पूज्य आचार्य ! अपने बुद्धिमान् शिष्य, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा सजाई गई, पाण्डु पुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिए। अथवा अपने कट्टर शत्रु, धृष्टद्युम्न और शस्त्र-अस्त्र के संचालन में परम कुशल अपने बुद्धिमान् शिष्य अर्जुन द्वारा सजी हुई पाण्डवों की इस बड़ी सेना को देखिए कि यह कितना घोर रूप धारण किये हुए है ॥३॥

पर पक्ष में परले पार के पक्षपाती, प्रबल शूरवीर सेना-नायक हैं,

यह दर्शाता हुआ वह बोला—इस पाण्डव सेना में भीम और अर्जुन के सदृश, युद्धविद्या में कुशल जो धनुर्वीर हैं उन में महारथी सात्यकि है, विराट है, द्रुपद है ॥४॥ धृष्टकेतु है, चेकितान है, शक्तिशाली काशिराज है, पुरुजित है, कुन्तिभोज है और नरश्रेष्ठ शैव्य है ॥५॥ इसी प्रकार महाबली युधामन्यु है, बलवान् उत्तमौजा है, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु है और द्रौपदी के पुत्र हैं, (ये सभी सेना-नायक) महारथी हैं, बड़ी-बड़ी रथ सेनाओं के सेनापति हैं ॥६॥

हे द्विजों में श्रेष्ठ ! अब हमारे पक्ष के जो मुख्य हैं (विशेष वीर हैं) मेरी सेना के नायक हैं, उन को आप जान लीजिए।

आप की जानकारी के लिये उनके नाम मैं आप को बताता हूं ॥७॥

उन में एक तो आप हैं, भीष्म हैं, कर्ण है, युद्ध में विजय पाने वाला कृपाचार्य है, अश्वत्थामा है, विकर्ण है और ऐसे ही सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा है ॥८॥ अन्य भी बहुत से शूरवीर मेरी सेना में विद्यमान हैं जो मेरे लिए जीवन त्याग किए हुए हैं और जो अनेक प्रकार के अस्त्रों से युद्ध करने वाले हैं। वे सभी युद्ध करने में निपुण हैं ॥९॥ ऐसे शूरवीर सेनानायक होते हुए भी–भीष्म से सुरक्षित (संचालित) हमारा सेनाबल अधूरा है--हमारा प्रधान सेनापति भीष्म है। वह वयोवृद्ध है, पाण्डु-पुत्रों में भी प्रेम-बद्ध है और उनकी हित-

कामना भी किया करता है, इस कारण हमारी सेना-शक्ति अपूर्ण है। परन्तु भीम से रक्षित (संचालित) इन पाण्डवों का सेनाबल पर्याप्त है—पाण्डव सेना का रक्षक, हमारा कट्टर शत्रु, प्रबल विरोधी भीम है, जो अपने पक्ष का परम पोषक है, इस लिए इन की शक्ति पूर्ण है ॥१०॥ इस लिए आप सभी सेनापति (अपने-अपने) सब सेना-विभागों में अच्छी प्रकार खड़े होकर सावधानता से भीष्म ही की रक्षा करें, उसे सहायता दें और पर पक्ष से बचाएं ॥११॥

उस समय जबकि दुर्योधन भीष्म की दुर्बलता बताकर द्रोणाचार्य को उत्तेजित कर रहा था, कुरुवृद्ध पितामह ने दुर्योधन को हर्षित

करते हुए ऊंचे स्वर से सिंहनाद करके (अपना) समरशंख बजाया ॥ दुर्योधन के सेनापतियों में परस्पर मेल नहीं था। उन का एक दूसरे के साथ सहयोग भी नहीं था, इसी कारण राजा दुर्योधन ने भीष्म की दुर्बलता दिखाकर द्रोण को उकसाना आरम्भ किया जिससे आवेश में आकर वह संग्राम में सहयोग दे ॥१२॥

भीष्म का समरशंख बजते ही तत्पश्चात् (सब) सेना-विभागों के शंख, भेरियां, नगारे, ढोल और नरसिंहे एक बार ही बज उठे। उन रण-बिगुलों का वह नाद बड़ा भयंकर था ॥१३॥

भीष्म की सेना के रणनाद हो जाने पर—उसी समय श्वेत घोड़ों

से जुते हुए महान् रथ पर आरूढ़ श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी (अपने) दिव्य शंख बजाये–उन्होंने भी अपनी सेना को संग्राम के आरम्भ की सूचना दी ॥१४॥ जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण ने पाँचजन्य शंख बजाया और धनों के जेता अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख को पूरित किया, तथा भीमकर्मा भीम ने पौराड्र नामक शंख को पूरा ॥१५॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्त-विजय, नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक नामक शंखों को बजाया ॥१६॥

संजय ने कहा, हे पृथिवीपति ! मुख्य सेनापतियों के समरशंख बजते सुनकर–परम धनुर्धारी काशिराज ने और महारथी शिखंडी ने,

धृष्टद्युम्न ने, विराट ने, अजेय सात्यकि ने, द्रुपद ने, द्रौपदी के पुत्रों ने और लम्बी भुजा वाले अभिमन्यु ने सब ओर से, अपने पृथक २ शंख बजाये ॥१७-१८॥

पाण्डव सेना की रण-घोषणा के उस घोर रणनाद ने भूतलाकाश को गुंजाते हुए (कम्पायमान करते हुए) धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण कर डाला—उस भयंकर नाद से तेरे पुत्रों के हृदय भय से कांप गए ॥१९॥

संजय ने कहा, हे राजन् ! जब दोनों ओर से संग्राम के नाद गुंजाये जा चुके थे, केवल परस्पर लोहा लेने की देर थी। उस शस्त्र

चलाने के समय में हनूमान् के चित्र-युक्त ध्वजा वाले अर्जुन ने तेरे पुत्रों को, समर के लिए सजे हुए देख कर, अपना धनुष उठाकर जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण को यह वचन कहा, हे अविनाशी ! मेरे रथ को (चलाकर) दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा कीजिए। जिससे लड़ने की इच्छा से (शस्त्र-अस्त्रों से सन्नद्ध होकर) खड़े हुए इन सब को (सुगमता से) मैं देख सकूं और जान लूं कि इस युद्ध की तैयारी में किनके साथ मुझे युद्ध करना है। नीति-न्याय-हीन, दुर्बुद्धि दुर्योधन का हित करने की इच्छा वाले जो यह योद्धा इस स्थान में इकट्ठे हुए हैं, उन युद्ध करने वालों को, मैं भली-भाँति देखूं ॥ २०–२३॥

नींद को जीतने वाले अर्जुन द्वारा ऐसा कहे जाने पर जितेन्द्रिय श्रीकृष्ण ने, दोनों सेनाओं के बीच, भीष्म, द्रोण और सब राजाओं के सामने, उस उत्तम रथ को खड़ा करके कहा, हे कुन्तीपुत्र ! इन एकत्रित खड़े कौरवों को तू देख ॥२४-२५॥

वहां, उन दोनों ही ओर की सेनाओं में, हथियारों से सज कर उपस्थित, बड़े-बूढ़ों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पोतों को, मित्रों को, ससुरों को, स्नेहियों को अर्जुन ने देखा। युद्ध करने के लिए सज कर खड़े हुए, उन सब बन्धुओं को अवलोकन करके, दया भाव से व्याप्त वह कुन्तीपुत्र अर्जुन

खेद करता हुआ, श्रीकृष्ण को यह वचन बोला, हे श्रीकृष्ण ! युद्ध करने की कामना से, सम्मुख विद्यमान इस स्वजन-समूह को देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं और मेरा मुख सूखता चला जाता है। मेरी काया में कपकपी छा रही है और रोंगटे खड़े हो गए हैं ॥२६–२६॥

मेरे हाथ से गाँडीव धनुष खिसकता जाता है और मेरी त्वचा भी जल रही है, मेरे तन को आग-सी लग रही है। मैं इतना शिथिल हो गया हूं कि खड़ा भी नहीं रह सकता हूं । और मेरा मन (तथा मस्तक) चक्कर-सा खा रहा है ॥३०॥ हे सुख में शयन करने

वाले, आनन्दकन्द कृष्ण ! इस समय सब निमित्त, मैं तो उलटे (अशुभ सूचक) देख रहा हूं । युद्ध में अपने जनों को मार कर मैं कल्याण (कुछ भी) नहीं देखता हूं । मुझे इस संग्राम में कोई भी लाभ नहीं दिखाई देता ॥३१॥

यदि कहा जाय कि युद्ध करने से मुझको विजय और राज्यसुख प्राप्त होगा तो–हे कृष्ण ! बन्धु-वध करके मैं विजय नहीं चाहता हूं, न राज्य की कामना करता हूं और न ही सुखों को चाहता हूं। हे इन्द्रियों को वश में करने वाले गोविन्द ! बन्धुओं को हनन करके प्राप्त राज्य से हमें क्या लाभ, भोगों से क्या सुख और जीवित रहने

से क्या प्रयोजन है? ॥३२॥ क्योंकि जिन स्वजनों के लिए–हमने राज्य की, सुखों की और भोगों की आकांक्षा की है, वे तो ये प्राणों और धनों को त्याग कर युद्ध-क्षेत्र में सज कर खड़े हैं। जिन में हमारे आचार्य्य हैं, पिता समान पूज्य जन हैं, पुत्र हैं, पितामह हैं, मामे हैं, ससुर हैं, पौत्र हैं, साले हैं और अन्य अनेक सगे-सम्बन्धी हैं ॥३३–३४॥

हे मधुनामक असुर का हनन करने वाले श्रीकृष्ण! ऐसे समीपी बन्धुओं द्वारा मैं मारे जाने पर भी इन को मारना नहीं चाहता। इस हस्तिनापुर की भूमि के लिए तो क्या त्रिलोकी के राज्य के लिए

भी, मैं इनके हनन करने की इच्छा नहीं करता ॥३५॥

हे दुष्टजन-नाशक श्रीकृष्ण ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को हनन करके हम को कौन प्रसन्नता मिलेगी ? प्रत्युत इन (अत्याचारी) आततायियों को मार कर हमको पाप ही लगेगा, इससे हम पाप कर्म के ही भागी बनेंगे ॥३६॥ हे माधव ! अपने बन्धुओं, धृतराष्ट्र के पुत्रों को हमें मारना नहीं चाहिए। निश्चय से, स्वजनों को मार कर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? ॥३७॥ यदि यह कहा जाय कि ऐसा विचार उनमें नहीं है तो मैं कहूंगा कि यदि लोभ से नष्ट-चित्त वाले ये, कुलनाश करने के दोष को और मित्र-द्रोह के पातक को नहीं देखते हैं

तो हे जनार्दन ! कुलक्षय करने के दोष को देखते हुए, इस पाप कर्म से हटने के (बचे रहने के) उपाय को हमें कैसे नहीं जानना चाहिए ॥३८-३६॥

हे महाराज ! कुल-नाश हो जाने पर (परम्परा से चले आते शिष्टाचार, सदाचार, रीति-नीति, मान-मर्यादा आदि सब) सनातन कुल-धर्म, कुल के सुचरित्र, सुकर्म नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। कुल के धर्मों के नाश हो जाने से सारे वंश को पाप, अधर्म, दबा लेता है। आचार के न रहने से कुल में पापाचार बढ़ जाता है ॥४०॥ हे वृष्णि-वंशज, कुलसुपूत, श्रीकृष्ण ! अधर्म के बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां

दूषित हो जाती हैं, उन में नियम-मर्यादा भंग हो जाती है। दोषयुक्त दुष्ट स्त्रियों से वर्णसङ्कर सन्तानें उत्पन्न होती हैं—गौर आदि वर्णों में मिश्रण हो जाता है, वर्ण-सौन्दर्य नहीं रहता ॥४१॥ वर्णसङ्कर सन्तान (समर की सन्तान कुसंस्कारों के दोष से) कुल-घातकों के कुल के लिए नरक का कारण ही हुआ करती है। उनके बड़े-बूढ़े—पितर अन्नोदक के अभाव से गिर जाते हैं, उनकी सेवा-शुश्रूषा नहीं रहती ॥४२॥ कुलघातकों के इन वर्णसङ्कर करने वाले दोषों से (कुसंस्कारयुक्त समरसन्तानों के अनाचारों के द्वारा, शूरवीरता, नीति, न्याय, विनय, मर्यादा आदि) सनातन जातीय धर्म [और सदाचार

आदि] कुल-धर्म जड़ से उखड़ जाते हैं ॥४३॥ हे जनार्दन ! गुरुजनों से ऐसा हम सुनते आये हैं कि कुल-धर्मों के नाशक मनुष्यों का नरक में [अति दुःख में] स्थिर रूप से वास होता है ॥४४॥ अहो ! अति खेद की बात है कि [ऐसे विचार रखते हुए भी] हम यह बड़ा पाप करने को तुल गए हैं जो राज्य के सुख के लोभ से स्वजनों को हनन करने को तैयार हो रहे हैं ॥४५॥ ऐसी अवस्था में, यदि बदला न लेने वाले, निःशस्त्र मुझको, हथियार हाथों में लिए धृतराष्ट्र के पुत्र रणक्षेत्र में मार दें तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी हो ॥ इससे मुझे बहुत शान्ति मिले और कुलनाश के घोर कुदृश्य को भी मैं

न देख पाऊं ॥४६॥

संजय ने कहा, हे राजन् ! संग्रामस्थल में, श्रीभगवान् को ऐसे वचन कह कर, बाणसहित धनुष को फैंक कर, कंपित हृदय अर्जुन रथ के पिछले भाग पर बैठ गया ॥४७॥

ओ३म् तत्सत् ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्या योगशास्त्र के अन्तर्गत श्रीकृष्णार्जुन-सम्वाद का अर्जुनविषाद नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

——०——

दूसरा अध्याय

बन्धुवर्ग के मोह से अर्जुन का हृदय व्याकुल हो उठा। उसका सारा शरीर काँप गया। उसकी इन्द्रियां शिथिल हो गईं और वह मूर्छा सी खाकर रथ पर बैठ गया। उसने मोह से उत्पन्न हुए विषाद में, अपने कर्तव्य कर्म में, अपने धर्म-पालन में पाप की कल्पना की और अन्त में बैठते समय महाराज को कहा कि मैं समयोचित कर्तव्य का पालन नहीं करूंगा।

संजय ने कहा, हे धृतराष्ट्र ! इस प्रकार करुणा से (बन्धुओं के

मोह से उत्पन्न हुई दीनता से) व्याप्त, आँसुओं से डबडबाती हुई आंखों वाले, उस दुःखित होते हुए अर्जुन को भगवान् मधुसूदन ने यह वचन कहा ॥१॥

हे अर्जुन ! ऐसे विषम समय में (जब कि न्याय और कर्तव्य-पालन के अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग नहीं रहा, संग्राम की सारी सुसज्जा हो चुकी है और अन्तिम निर्णय करना अनिवार्य्य हो गया है) तुझ में बन्धुओं के मोह का यह पाप कहां से आ गया है ? यह पाप अनार्य्य जनों में हुआ करता है। यह नरक देने वाला है और अपयश-कारक है ॥

श्री महाराज ने अर्जुन को बलाढ्य वचनों में बताया कि यह तेरा मोह तथा कर्तव्य कर्म पालन करने से विमुख होना धर्म नहीं किन्तु अधर्म है–पाप है। आर्य्यों में मोह और कायरता का पाप नहीं होता, वे कर्तव्य कर्म को धर्म मानते हैं। यह तेरा पाप अनार्य्य कर्म है और तेरी जाति के कर्मों से विपरीत है। यह पाप धर्मतत्त्व के भी विपरीत है, इस कारण नरक देने वाला है। इसी प्रकार यह पाप शूरवीर क्षत्रियों की अपकीर्ति का कारण ही हुआ करता है ॥२॥

हे अर्जुन ! ऐसे समय में तू क्लीव न बन (पुरुषता से पतित न हो), यह नपुंसकता तुझ में नहीं फबती, (तुझ में ऐसी कायरता का

आ जाना शोभा नहीं देता। हृदय की दुर्बलता के वश तू ऐसी अधीरपन की बातें कर रहा है, इस कारण) हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर, हे शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले! खड़ा हो जा, कर्तव्य का पालन कर ॥३॥

श्रीकृष्ण के ऐसे वचन सुन कर अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन! यदि क्षत्रिय का कर्तव्य पालन करना मेरा धर्म है तो संग्राम में भीष्म और द्रोण को बाणों से मैं कैसे बींधूंगा? वे दोनों तो पूजा के योग्य हैं ॥४॥ इन ऊंचे भाववाले गुरुजनों को न मार कर, इस लोक में, भीख माँग कर अन्न खाना उत्तम है। परन्तु धन की कामना करने

वाले (विपत्तियों में खड़े) इन गुरुजनों को मार कर, निश्चय से इसी लोक में, मैं रक्त से मिश्रित भोगों को भोगूंगा ॥५॥

अब रही विजय की बात, हम यह नहीं जानते कि हम दोनों में कौन अच्छा है–अधिक प्रबल है–और हम यह भी नहीं जानते कि हम जीतते हैं अथवा वे हम को जीत जायें। परन्तु शोक की बात तो यह है–जिन को मार कर हम जीना भी नहीं चाहते हैं वे धृतराष्ट्र के पुत्र (मरने मारने को सन्नद्ध) सामने खड़े हैं ॥६॥

हे कृष्ण ! कायरता से मेरा शूरवीरता का स्वभाव हनन हो गया है, मेरा जातीय गुण दब गया है। मेरा धर्म कर्तव्य पालन करना है

अथवा भीख मांग कर निर्वाह करना, इसमें मेरा चित्त धर्मविमूढ़ हो गया है, गड़बड़ा गया है। इस लिए मैं तुझ से पूछता हूं, जो कल्याणकारी मार्ग हो वह निश्चित मार्ग मुझे बताइए। मैं तेरा शिष्य हूं। तेरी शरण में अर्पित हूं। मुझे शिक्षा दीजिए॥ मुझ को निश्चित सन्मार्ग बताइए, धर्माधर्म को कर्तव्य-अकर्तव्य के भेद को समझाइए ॥७॥
मेरी तो मानस अवस्था ऐसी हो गई है कि भूमि पर, शत्रुओं से रहित, धन-धान्य-सम्पन्न राज्य पाकर और देवों का स्वामित्व प्राप्त करके भी, इतने ऐश्वर्य्य में, निश्चय, मैं ऐसा कुछ नहीं देखता जो इन्द्रियों को सुखाने वाले मेरे शोक को (मेरी इस मानस चिन्ता को) दूर कर

सके ॥८॥

संजय ने कहा, हे राजन् ! शत्रुओं को जीतने वाला निरालसी अर्जुन (अपनी अवस्था वर्णन करने के अनन्तर, भगवान् के चरणों में अपना आप समर्पण करने के पश्चात्) ऐसे वाक्य श्रीकृष्ण को कह कर गोविन्द को बोला, मैं युद्ध नहीं करूंगा और फिर मौन हो गया ॥९॥ संजय ने कहा, हे भारत ! अर्जुन की ऐसी मानस दशा देख कर और उसकी दीन-दुर्बल अवस्था को जानकर, दोनों सेनाओं के बीच, श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए, उस दुःखी अर्जुन को ये वचन कहे ॥ उसकी कर्तव्य-विमुखता, अनुचित अधीरता और मानस-

दुर्बलता देख कर, मन्द मुस्कराहट के साथ, महाराज, उसे ये वचन बोले ॥१०॥

हे अर्जुन ! तू उनका शोक करता है जिनका शोक नहीं करना चाहिए, तू धर्म-कर्म-रत, ज्ञान-ध्यान-परायण उन भीष्मादि का शोक करता है जिनकी चिन्ता करना तुझे उचित नहीं। वे तुझ से अधिक ज्ञानवन्त हैं और धर्म के सार-मर्म को समझते हैं। ऐसी दशा में, मोहवश, केवल तू बुद्धि की बातें बना रहा है—केवल तू पण्डितों के समान बुद्धिवाद के वचन ही बोल रहा है। पण्डित तो मरों का और जीवितों का शोक नहीं किया करते ॥

पण्डितों के मत में, मनुष्य के लिए, समबुद्धि से कर्तव्य कर्म करना ही उचित है। कर्तव्य कर्म में अधर्म की धारणा रखना कोरा अधर्म है। वस्तुओं के परिवर्तन में, लोकों के उत्पत्ति-विनाश में जैसे सृष्टि-नियम काम कर रहा है, ऐसे ही प्राणियों का जीवन-मरण विधाता का विधान है। यह विश्व-आत्मा का विधान किसी से भी टाले नहीं टल सकता ॥११॥

यदि तू यह समझता है कि देहों के साथ हम सब के आत्मा भी मर जायेंगे तो यह सत्य नहीं है क्योंकि किसी समय भी मैं नहीं था, तू नहीं था, ये (सामने खड़े) राजे नहीं थे, यह सत्य नहीं है।

और यह भी सत्य नहीं है कि इस जन्म के पश्चात् भी हम सब नहीं होंगे ॥ हम सब इस जन्म से पहिले भी थे और मरण के पश्चात् भी बने रहेंगे। देह से आत्मा भिन्न वस्तु है। वह एक सूक्ष्म सत्ता है और तीनों कालों में एक रस अमृत है। उस के स्वरूप का मरण कदापि नहीं होता। वह तो स्वयं अखण्ड, अमर जीवन है। जन्म-मरण तो देह और आत्मा के संयोग-वियोग से केवल काया में कहे गये हैं ॥१२॥

जैसे इस देह में देहधारियों की बाल्यावस्था, यौवन और बुढ़ापा (ये तीन अवस्थाएं हैं) इसी प्रकार दूसरी देह की प्राप्ति भी एक अवस्था

है। बालकाल, यौवन और बुढ़ापे के आने जाने की भान्ति दूसरी देह में जाना भी एक अवस्था मात्र है, उस को आत्मा का मिट जाना नहीं मानना चाहिये। उस परिवर्तन में बुद्धिमान् मोह में, अज्ञान में नहीं उलझता।

एक ही देह पर जब बालकाल के पश्चात् यौवन आता है तब अवस्था बदल जाती है, बालकाल की कोमलता नहीं रहती। इसी प्रकार जब देह पर वृद्धावस्था छा जाती है तब यौवन अवस्था नहीं रहती परन्तु अवस्थाओं का साक्षी, जानने वाला, एक ही बना रहता है, वह नहीं बदलता। इसी प्रकार मरना भी एक अवस्था परिवर्तन

मात्र है। उसमें आत्मा का नाश नहीं होता ॥१३॥

जब मरण-जीवन केवल अवस्था परिवर्तन है तो सुख-दुःख क्या हैं? और किस को होते हैं? इस सम्बन्ध में महाराज ने कहा—हे कुन्तीपुत्र! इन्द्रियों के जो रूपादि विषयों के साथ संयोग हैं (वे ही) शीत, उष्ण, सुख, दुःख देने वाले हैं–इन्द्रियों की वृत्तियों का बाहर के विषयों के साथ संयोग ही अनुकूल-प्रतिकूल भाव का कारण है। वे विषय उत्पत्ति-नाशवान् हैं, अनित्य हैं। हे भारत! तू उन को (विचार से) सहन कर ॥

देखने-सुनने आदि के भाव से जब चित्तवृत्ति, रूपादि विषयों

में जाती है तो उन में तदाकार हो जाती है, उन में अनुकूल-प्रतिकूल की कल्पना कर लेती है। तब अनुकूल से राग और प्रतिकूल से द्वेष होने लगता है। इसी से सर्व सुख-दुःखों की उत्पत्ति होती है। विषयों में चित्तवृत्तियां ठीक उसी प्रकार विषयाकार बन जाती हैं जैसे जल, क्यारे अथवा सांचे के आकार के अनुसार अपना आकार बना लेता है।

दूसरे के आकार को तथा स्वभाव को अपना मान लेना ही अध्यास है। मैं विषयरूप हूं, मैं देह हूं, मुझ में नए पुराने पन का परिवर्तन है, मैं होकर नहीं रहूंगा इत्यादि भावनाएं ही अध्यास

हैं, प्राणियों में ये जन्म जन्मान्तरों से चली आती हैं, ये भावनाएं ऐसी पक्की अध्यस्त हो गई हैं कि प्रायः प्राणी अपने आप को इन भावनाओं से भिन्न नहीं जानते। यही बड़ी अविद्या है और यही बड़ा अज्ञान है।

रूपादि विषय प्रकृति का विकार हैं। वे उत्पन्न हुए हैं इस कारण समय पाकर नष्ट भी हो जायेंगे। इनमें आत्मा की भावना हो जाने से इनके परिवर्तन आदि स्वभाव, आत्मा पर सवार हो जाते हैं। वे आत्मा को ऐसे ही आच्छादित कर लेते हैं जैसे सूर्य्य को मेघमाला तथा चन्द्र को राहु। प्रकृति के विकारों को, बाहर के परिवर्तनों को

अपने आप में मान लेना ही नाना प्रकार के कष्टों और क्लेशों का कारण कहा गया है। विवेकी को तो यही धारणा करनी चाहिए कि इन्द्रियों का जो विषयों के साथ संयोग है वह नाशवान् है; वह सदा एक रस नहीं रहता। वह उन को धैर्य्य से सहन करे और अपने आत्मा को उनसे ऊपर जाने। जैसे अभ्यास से शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि अधिक कष्टकारक नहीं रहते ऐसे ही विवेक बुद्धि से विचारने से बाहरी विषयों के सर्व परिवर्तन तथा सम्बन्ध बहुत दुःखदायक नहीं हुआ करते ॥१४॥ इस कारण, हे पुरुष श्रेष्ठ! निश्चय से सुख-दुःख में सम रहने वाले जिस धीर (बुद्धिमान्) पुरुष को ये विषय व्याकुल

नहीं करते (इन्द्रियों के साथ विषयों के संयोगों का होना जिस को नहीं सताता) वह मोक्ष के योग्य हो जाता है।

बाहरी विषयों का सम्बन्ध जिस बुद्धिमान् को चलायमान नहीं करता, जो सुख-दुःख में सम रहता है, ऐसा समदृष्टि, वीतराग पुरुष मोक्षपद का अधिकारी होता है।

आत्मा स्वभाव से मलिन नहीं है और न ही उस के स्वरूप में अज्ञान, अविद्या तथा दोष आदि प्रकृति के विकारों का सम्बन्ध है। उसका स्वभाव विमल है, उसका स्वरूप शुद्ध है। वह सत् है—वस्तु है, अस्तिभाव है तथा अमर है। वृत्तियों का विषयों के साथ जो सम्बन्ध

हो जाता है, वह नाशवान् है, अनित्य है, केवल परिवर्तन मात्र है, अवस्तु है और उसी को अपने ऊपर आरोप कर लेना—अपने आत्मा के ऊपर चढ़ा लेना—मरण और नाश है। प्रकृति के विकारों से स्वतन्त्र आत्मा तो अविनाशी ही है ॥१५॥ श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन ! असत् का (अवस्तु का) भाव (होना, अस्तित्व) नहीं होता और सत् (वस्तु) का नाश भी नहीं हुआ करता। इन दोनों का सिद्धान्त (निर्णय) सार देखने वालों ने देखा है॥ तत्त्वदर्शियों ने यह सिद्धान्त जाना है कि जो नहीं है वह नहीं होता, नास्तित्व से कोई वस्तु नहीं होती और जो वस्तु है, अस्तित्व है उसका कभी भी नाश नहीं होता। आत्मा

अस्तित्व है, वस्तु है, इस कारण इसका नाश त्रयकाल में कदापि नहीं हो सकता। जन्म-मरण केवल अवस्थायें हैं जो प्रकृति के संयोग से आत्मा पर आती जाती रहती हैं, उन अवस्थाओं के नाश से आत्म-सत्ता का नाश मानना भारी भूल है ॥१६॥

और–तू उस परमेश्वर को (भी) अविनाशी जान जिससे यह सब (विश्व) विस्तृत हुआ है। इस, न बदलने वाले, परम पुरुष का नाश कोई नहीं कर सकता॥ जिस सर्वशक्तिमान् भगवान् ने यह सब कुछ रचा है वह अविनाशी है। वह सब जीवों का अमृतपद है। वह भगवान् देश तथा काल से ऊपर है। उस सब के रचने वाले को माया,

रचना घेर नहीं सकती; कर्ता को कृति नष्ट नहीं कर सकती। अथवा जिस भगवान् से यह सारा जगत् विस्तृत हुआ है उसको तू अविनाशी जान। और यह न परिवर्तन होने वाला आत्मा जो माया-मोह-वश, तथा अज्ञान से प्रकृति के परिणामों को अपने में होते मान कर, जन्म-मरण में फंसा पड़ा है इसका विनाश भी कोई नहीं कर सकता। यह भी स्वरूप से अमर, अविनाशी तथा अमृत है। विनाश तो केवल विकार तथा विकृति का है। जैसे कार्य्यरूप, विकारमय, यह सारा दृश्यमान समष्टि जगत् नाशवान् है वैसे ही प्रकृति के परिणामों से बने प्राणियों के देह भी नाशवान् हैं। जैसे विश्वरचना अनित्य है उसी

प्रकार व्यष्टि-देह भी अनित्य है ॥१७॥

हे अर्जुन ! शरीर में रहने वाले, सनातन, अपरिमित, अविनाशी, आत्मा के ये [स्थूल, सूक्ष्म और कारण] शरीर अन्तवाले कहे गये हैं। इस कारण तू युद्ध कर। आत्मा नित्य है, अविनाशी है, वह कारण-कार्य्य-भाव से रहित है। वह बनी हुई वस्तु नहीं है। वह सनातन अमर सत्ता है। ऐसा आत्मा, अपने अनन्त जीवन, अपने सत्य स्वरूप, अपने चेतन स्वभाव, अपनी अगम्यगति और अतुल शक्ति के कारण अपरिमित है, माप-रहित है। केवल उसके देह ही नाशवान् हैं। इस लिये तू अपने आप के नाश का तथा किसी भी आत्मा के विनाश

का विचार छोड़ कर अपना कर्तव्य कर्म कर। जीवन-मरण की मोह-माया में पड़ कर निज धर्म को न त्याग ॥१८॥

जो पुरुष आत्मज्ञानी, समबुद्धि, राग-द्वेष-रहित होकर अपना कर्तव्य पालन करता है तो वह ईश्वरीय नियम में एक निमित्त मात्र ही होता है। सृष्टिनियम के महान् यन्त्र का एक पुर्ज़ा ही माना गया है—ऐसे इस जन को जो मनुष्य मारने वाला जानता है और जो इस को [दूसरे से] मारा गया हुआ मानता है वे दोनों [आत्मा को अथवा कर्तव्य धर्म के महत्त्व को] नहीं जानते। यह आत्मज्ञानी तो न किसी को मारता है, न किसी से हनन किया जाता है॥ साधारण

रूप से जन, प्रायः देह को ही अपना आप मानते हैं। ऐसे मनुष्यों के कर्म, राग द्वेष और वैर विरोध से हुआ करते हैं परन्तु जो जन समभाव से कर्तव्य पालन करते हैं और जो अपनी अमर सत्ता के ज्ञान से जग जाते हैं उनके कर्म आत्मभाव से, सृष्टि नियम से और कर्तव्य-बुद्धि से होते जाया करते हैं। इस लिये वे आत्मदर्शी कर्तव्य कर्म करने के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं सोचते। जैसे नट की दृष्टि बाँस के बोझ को बराबर रखने में लगी रहती है, ऐसे ही कर्मयोगी, समबुद्धि, की दृष्टि केवल कर्तव्य कर्म में गड़ी हुई हुआ करती है। वह मारने की बुद्धि से किसी को नहीं मारता। वह देह से अपने आत्मा

को भिन्न मानता है इस कारण वह किसी से मारा भी नहीं जाता। कर्मयोगी का लक्ष्य केवल कर्तव्य-पालन होता है, उसकी धारणा, आत्म-सत्ता में सदा निर्भ्रान्त बनी रहती है। वह आत्मा को अनादि अनन्त जानता है। वह यह समझता है कि मेरा अस्तित्व अनादिकाल से निरन्तर चला आया है। मेरा स्वरूप पुरातन है, परिणाम से रहित है। देह के हनन होने पर आत्मसत्ता का हनन नहीं होता। आत्मशक्ति तो, देह के हनन होने पर, उसमें से, ऐसे बाहर निकल जाती है जैसे छिद्र हो जाने से मश्क में से वायु और कोश में से विद्युत् निकल जाया करती है ॥१६॥

महाराज ने कहा, हे पार्थ ! वास्तव में यह आत्मा न कभी जन्म लेता है, न मरता है और न (यही है कि) यह था और आगे नहीं रहेगा—होकर फिर न होगा। यह (स्वरूप से) उत्पत्तिरहित है, नित्य है, सदा रहने वाला है और पुरातन है। शरीर के हनन किये जाने पर यह (परम सूक्ष्म तत्व) हनन नहीं होता। आत्मा विद्युत् की भांति परम सूक्ष्म शक्ति है जो देह के कोश में बंद हो रही है। इस कोश के हनन होने पर उस सत्य, सनातन, सूक्ष्म शक्ति का हनन नहीं हो सकता। देह के कोश के टूटने पर वह ज्योतिर्मयी शक्ति कोश से बाहर हो जाती है, उसका नाश नहीं होता ॥२०॥

फिर महाराज ने कहा, हे पार्थ ! जो मनुष्य (ऊपर वर्णन किये) इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अपरिवर्तनशील जानता है वह (समदृष्टि, तत्त्वज्ञानी) पुरुष भला कैसे किस को मरवाता है और किस को मारता है ॥ वह आत्मवेत्ता तो कर्तव्य कर्म समझ कर कार्य-क्षेत्र में, निर्वैर बुद्धि से काम करता है। ऐसे आत्मदर्शी में वैर भाव से हनन की कल्पना भी नहीं होती। वह अपने आपको विश्व के नियम का एक अङ्ग ही मान कर काम किया करता है ॥२१॥

आत्मा की अमरता तथा नित्यता मान कर भी यह विचार बना रह सकता है कि आत्मा देह के वियोग से और अन्य देह के न मिलने

से दुःखी होता होगा। इस पर भगवान् ने कहा—जैसे मनुष्य अपने पुराने–जीर्ण–वस्त्रों को छोड़ कर (उतार कर) दूसरे नए (कपड़े) पहन लेता है–वस्त्र बदलने में कुछ भी कष्ट नहीं मानता–इसी प्रकार देहवान् आत्मा (रहने के अयोग्य) जीर्ण शरीरों को त्याग कर (कर्मानुसार और प्रभु प्रेरणा से) दूसरे नवीन शरीरों में चला जाता है॥ देह के परिवर्तन में आत्मा को कोई भी क्लेश नहीं होता। आत्मा का देह को बदलना वस्त्र बदलने के सदृश ही है। जैसे एक ही मनुष्य एक कमरे से दूसरे कमरे में चले जाने से, एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जा रहने से, मरा हुआ नहीं माना जाता, ऐसे ही देहों के मकान तथा स्थान बदल

लेने से आत्मा भी अमर ही रहती है। जैसे बिजली की ज्वलन्त बत्ती पर चढ़े हुए लट्टू के बदलने वा टूटने पर बिजली की धारा का नाश नहीं होता इसी प्रकार देह के परिवर्तन पर आत्मसत्ता की नित्यता नष्ट नहीं होती ॥२२॥

इस (अमर, अविनाशी परम सूक्ष्म आत्मा) को [तलवार आदि तीखे] शस्त्र नहीं काटते, इसको आग नहीं जलाती, पानी इसको नहीं भिगोते और न ही इसको वायु सुखाती है ॥२३॥ यह परम सूक्ष्म आत्मा छेदन नहीं किया जा सकता। यह दग्ध नहीं हो सकता, यह नहीं भिगोया जा सकता और निश्चय से सूख भी नहीं सकता।

क्योंकि यह आत्मा नित्य है (पंच भूतों का कार्य नहीं है), सर्वगत है (अपने मुक्तभाव से सर्वत्र प्राप्त है), स्वरूप से स्थिर है, अचल है और सनातन है ॥

आत्मा आदि अन्त से रहित है। यह नित्य, सत्य और सनातन सत्ता है। यह अभाव से, नास्तित्व से नहीं बना हुआ है। नास्तित्व से अस्तित्व कदापि नहीं हो सकता। अभाव से (न होने से) भाव कदापि नहीं होता ॥२४॥

देह में रहने वाला सूक्ष्मतम आत्मा क्रिया से, चेतना से, स्मृति से और प्राणों के आने जाने आदि से जाना तो जाता है परन्तु फिर

भी स्वरूप से–यह अव्यक्त है–इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता। मन-बुद्धि का विषय न होने से–यह अचिन्त्य है। यह प्रकृति के विकार, परिणाम से रहित कहा जाता है। इस लिए इस आत्मा को ऐसा जान कर–हे अर्जुन ! तुझे चिन्ता नहीं करनी चाहिये॥ यद्यपि यह आत्मा देह में रहता हुआ जान पड़ता है परन्तु अपने स्वरूप से वह इन्द्रियों के विषय से बाहर है। उसका अगम्य स्वरूप, मन-बुद्धि के चिन्तन में भी पूरा नहीं आता। वह प्रकृति का विकार भी नहीं है, वह पांच भूतों से बना हुआ कार्य नहीं है। इस कारण उसका हनन और मरण कदापि नहीं होता। हनन और मरण तो देह में ही माने गये हैं।

देश-काल में उत्पन्न हुए कार्य का मरना तथा बिगड़ना अवश्यंभावी सृष्टि नियम है। वह नियम किसी और नियन्ता की नियति है और अटल है। इस लिए, अपने कर्तव्य कर्म करने के काल में, तुझे अपने वश से बाहर की बातों का चिन्तन करना उचित नहीं है ॥२५॥

आत्मा का सत्य, सनातन, नित्य और अमृत स्वरूप समझाने के पश्चात् महाराज ने कहा—हे विशालभुज ! यदि इस आत्मा को नित्य [सदा] जन्म लेने वाला और सदा मरने वाला तू मानता है [प्रकृति का विकार ही समझता है] तो भी तू इस प्रकार शोक करने

योग्य नहीं है ॥ आत्मा का प्रकृति से पृथक् न होना मान कर भी तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥२६॥ निश्चय से बने हुए (जन्मे हुए) की मृत्यु है और मरे हुए का निश्चय जन्म है—उत्पत्ति-लय, कारण-कार्य-भाव और बनना बिगड़ना तो विकारी जगत् में निश्चय ही है। इस लिए (सदा जन्म मरण रूप) अनिवार्य विषय में भी तुझे शोक नहीं करना चाहिए ॥ आत्मा की प्रकृति से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता न मान कर भी, सदा बनने बिगड़ने वाले के जीवन मरण की चिन्ता करनी तुझे उचित नहीं है, क्योंकि यह भी तेरे वश की बात नहीं है। नया पुरानापन, उत्पत्ति-लय, होकर न रहना आदि कार्य जगत् का

स्वभाव है और यह अनिवार्य है। तब ऐसा मान कर भी चिन्ता करना व्यर्थ है ॥२७॥

नास्तिकवाद की असारता दिखा कर आस्तिक भाव दर्शाते हुए भगवान् ने कहा, हे भारत! सब प्राणी जन्म से पहले अव्यक्त होते हैं (देखे नहीं जाते) मरने के अनन्तर भी प्रकट नहीं रहते (केवल) मध्य में, (जन्मने मरने के बीच ही) जान पड़ते हैं तब इसमें क्या अधिक रोना?॥ जन्मने मरने के बीच जो थोड़े काल का संयोग है, सम्बन्ध है, अवश्य टूट जाने वाला है। उसके लिए इतना विलाप सर्वथा व्यर्थ है। आत्मा के लिए रोना अनुचित है ॥२८॥

मोह, ममता और माया में फंसे हुए मनुष्य प्रायः शरीर से पृथक् आत्मा नहीं समझते। वे देह को ही सर्वस्व मान बैठते हैं। उन में सदा देहवाद की कथा चलती रहती है। ऐसा विवेकी–कोई ही होता है जो इस आत्मा को आश्चर्यरूप जानता है। ऐसे ही दूसरा भी कोई ही इस आत्मा को आश्चर्यरूप वर्णन करता है। अन्य भी कोई ही होता है जो इस आत्मा को आश्चर्यरूप सुनता है और कोई ऐसा (मन्दभाग्य) भी होता है जो इसको सुन कर भी नहीं जानता॥

जन्म जन्मान्तरों से जो प्राणी इन्द्रियों में, शरीर में, प्राणों में, मन में तथा बुद्धि में ही आत्म-भावना करते आये हैं, उन में कोई

पुण्यवान् ही अद्भुत आत्मतत्त्व को जानता है। वह उत्तम पुरुष भी विरला ही होता है जो श्रोताओं के सम्मुख आत्मा के अद्भुतरूप का वर्णन करता है। सत्संग में, आश्चर्यरूप आत्मा का वर्णन सुनना भी किसी पुण्यकर्मी का ही काम है ॥२६॥

हे अर्जुन ! यह देहधारी आत्मा, सब देह में (सब शरीरों में–नित्य अवध्य है) यह किसी भी शरीर में रहता हुआ किसी से मारे नहीं मरता। इस लिए सब जीवों की भी चिन्ता करना तुझे उचित नहीं है। यहां उपस्थित दोनों दलों के मनुष्यों का आत्मा ही क्या, शरीरधारी मात्र का आत्मा अमृत है और सदा

अविनाशी है ॥३०॥

इस प्रकार आत्मा की अमर सत्ता को देह से भिन्न दर्शाकर और कर्तव्य कर्म में, मोह-ममता में पड़ कर शोक करना अनुचित बताकर, महाराज ने अर्जुन को क्षत्रिय धर्म की दृष्टि से कहा, स्वधर्म को [अपने क्षत्रिय कर्तव्य को] देख कर भी तुझे कांपना उचित नहीं है—रक्षा का कर्तव्य धारण करने वाले क्षत्रिय को अधीर हो जाना, भय खाकर भागना, कांपना और शोक करना अनुचित ही है। निश्चय से धार्मिक युद्ध से भिन्न (दूसरा कोई कर्म) क्षत्रिय के लिए कल्याण-कारी नहीं है ॥ शूरवीर क्षत्रियों का कल्याण, धर्ममय युद्ध से ही हो

जाता है। धर्ममय युद्ध वही है जो पर-पक्ष के अन्याय से, अत्याचार से, अपने-आप गले आ पड़ा हो। अपनी ओर से, जिस में द्वेष से, वैर से, ईर्ष्या से और लोभ से छेड़-छाड़ न की गई हो और जो केवल अपने स्वाभाविक अधिकारार्थ तथा जन-समाज के हित के लिए किया जाय ॥३१॥

ऐसा अकस्मात् (अपने-आप) आ पड़ा युद्ध (क्षत्रिय के लिए) स्वर्ग के द्वार को खोल देने वाला है। हे अर्जुन! ऐसे युद्ध को पुण्यवान् (भाग्यशाली) क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं॥ अपने प्यारे प्राणों को बलि बना कर देश और समाज की सेवा करना सब से उत्तम

त्याग है। यह रक्षण का धर्म और यह त्याग, सौभाग्यशालियों को ही मिला करता है। प्रत्येक देहधारी की देह में निज रक्षा का स्वाभाविक नियम विद्यमान है। नाना रोगों के विषैले जन्तुओं को नसों-नाड़ियों में दौड़ने वाले विशेष रक्ताणु–केन्द्र–रात-दिन निरन्तर हनन करते रहते हैं। ऐसे रक्षक रक्ताणुओं के बल से ही शारीरिक जीवन चलता है, रोगों से बचा रहता है। आत्मरक्षा का स्वभावसिद्ध, जो नियम, एक मनुष्य की देह में काम करता रहता है वही यदि जाति की देह में क्षत्रियरूप में काम करे तो जाति का जीवन बचा रहता है और जन-समाज सुरक्षित हो जाया करता है। ऐसे

स्वभावसिद्ध नियम के अनुसार ही क्षत्रिय धर्म में धार्मिकता कही गई है ॥३२॥

महाराज ने कहा, ऐसा जानते हुए भी अब यदि तू इस धर्ममय संग्राम को नहीं करेगा तो अपने धर्म को (कर्तव्य-पालन को) और अपनी कीर्ति को त्याग कर (केवल) पाप ही को पायेगा ॥ इससे तू अपने धर्म और यश को छोड़ कर पतित हो जायगा। जिस कर्म से मनुष्य के बुद्धिबल का, विवेक-विचार का, शक्ति-सामर्थ्य का, आत्मा का, जाति-बंधु का, कर्तव्य और समाज का पतन हो जाय वह कर्म पाप है ॥३३॥ और सदा रहने वाली तेरी अपकीर्ति को लोग वर्णन

करते रहेंगे। सम्मानित मनुष्य का अपयश (उसके लिए) उसके मरने से बढ़ कर [दुःखदायक] हो जाता है॥ अधर्ममय अपयश को लोक में माने हुए क्षत्रिय, मरने से भी बहुत बुरा मानते हैं॥३४॥ बड़े सेनापति तो तुझे भय से रण से हटा हुआ मानेंगे–वे यह नहीं मानेंगे कि तू बन्धु-प्रेम और दया के कारण संग्राम से हट गया है। जिन में तू सम्मान पा चुका है [उन की दृष्टि में] हलका हो जायगा॥ वे तुझे तृणतुल्य तुच्छ मानने लग जायेंगे॥३५॥

और दुर्योधन आदि तेरे शत्रु, तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए, तुझ को बहुत कुवचन कहेंगे। तेरे लिए इस से बढ़ कर दुःख क्या

होगा ? ॥ निन्दा तेरे लिए बहुत बड़ी दुःखदाई हो जायगी। इस कारण तू धर्म से पतित न हो और अपनी सुकीर्ति को कायरता की कालख का कलङ्क न लगा ॥३६॥ हे कुन्तीपुत्र ! यह निश्चय रख कि यदि तू धर्ममय संग्राम में मारा गया तो स्वर्ग को (ऊँची गति को) पाएगा और जीत कर (यदि तेरी विजय हो गई तो) तू पृथ्वी को भोगेगा, तब तू राज्य को प्राप्त कर लेगा। इस कारण युद्ध के लिए निश्चय करके तू खड़ा हो जा ॥३७॥ सुख-दुःख को, हानि-लाभ को और जय-पराजय को समान जान कर, फिर तू युद्ध के लिये लड़। इस प्रकार [सम, एकरस मानसदृष्टि हो जाने से] तू पाप को

नहीं प्राप्त होगा ॥

निर्वात जल तथा दीपक की ज्योति की भांति जो जन सुख-दुःख, हानि-लाभ और जीत-हार में सम रहता है, डांवांडोल नहीं होता और अपने कर्तव्य कर्म में दत्तचित्त बना रहता है वह पाप और दोष से लिप्त नहीं होता। पाप तो राग-द्वेष-रूप मानस विकारों की विषमता से कर्म करने पर ही लगा करता है। लोभ और वैर भाव आदि विकार आत्मा की समता भंग करते हैं। और वे विकार प्रकृति के रजोगुण तथा तमोगुण में गिने गये हैं। प्रकृति के गुणों से रहित आत्मा तो स्वच्छ स्फटिक के समान है। जैसे स्फटिक के समीप जिस

रङ्ग के पुष्पों की अञ्जलि रखी जाय उसमें वही दीखने लग जाती है, इस प्रकार आत्मा का प्रकृति के जिस गुण के साथ सम्बन्ध हो वही गुण उस में बसने लग जाता है। मनोवृत्ति उसी का आकार धारण कर लेती है। इस लिए जो मनुष्य सम रह कर केवल कर्तव्य कर्म करता है, वैर आदि की माया से ऊपर आत्मा में स्थिर होता है, उस अवस्था में उस को पाप स्पर्श नहीं करता ॥३८॥

भगवान् ने कहा, हे अर्जुन! यहां तक जो आत्मतत्त्व का वर्णन हुआ है—यह बुद्धि (यह ज्ञान) मैंने तुझे सांख्य सिद्धान्तानुसार कही है। और अब कर्मयोग के अनुसार यह ज्ञान तू मुझ से श्रवण

कर, जिस बुद्धि से (कर्मयोग से) युक्त होकर तू कर्मों के बन्धन तोड़ देगा।

सांख्यज्ञान का तात्पर्य यह है कि गिनती करने से जो आत्मज्ञान हो। प्रकृति की उसके गुणों और उसके विकारों की विवेचना करते हुए जो शेष रह जाय, उन से भिन्न सिद्ध हो, सांख्यवाद से, वह आत्मा है। ऐसे ही देह में घटना बढ़ना होता है और यह परिवर्तनशील है। इन्द्रियां भी प्रकृति का विकार हैं। मन और बुद्धि की वृत्तियां सूक्ष्मतर प्रकृति का अंश हैं। ये सब बदलने वाले अङ्ग हैं। ये सत्य तथा नित्य नहीं हैं। मृतदेह में इन्द्रियां तो होती हैं परन्तु चेतना नहीं

रहती। इस कारण, वह चेतना इन्द्रियों का स्वभाव नहीं है। इन विनाशी तथा जड़ विकारों के अतिरिक्त, जो जानने, देखने, सुनने, समझने वाली चैतन्य सत्ता है वह आत्मा है। वह प्राकृत विकार न होने से अमर–अविनाशी–वस्तु है। वह पांच भूतों में से किसी भी भूत का विकार नहीं है, अतएव नित्य पदार्थ है। वह सूक्ष्मतम है इस कारण अछिन्न है, अभिन्न है।

उस आत्मा का स्वभाव--स्वरूप–ही ज्ञान है। उसी का प्रकाश सब इन्द्रियों को प्रकाशित कर देता है। जैसे एक ही विद्युत-धारा, अनेक बत्तियों के एक गुच्छे को एक बार ही प्रकाशित कर देती है,

ठीक इसी प्रकार एक ही आत्मज्योति सब इन्द्रियों को प्रकाश प्रदान करती है। आत्मसत्ता तो स्वतः प्रकाश है, चैतन्य है। उसका देह के साथ, इन्द्रियों के साथ, मन और बुद्धि के साथ स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध है। ये सब उसके अपने साधन हैं और वह इन सबका शासक स्वामी है।

आत्मा परमाणुओं से भी सूक्ष्म है। परमाणुओं में चेतनता नहीं है। उनमें केवल कम्प है जो किसी प्रकार जीवन तो कहा जा सकता है परन्तु उसे जीवात्मा मानना भारी भ्रम है। परमाणुओं के दो विभाग ऐसे हैं जिन को रजोगुण तथा तमोगुण कहा जाना चाहिए।

सत्त्वगुण शक्ति के रूप में सब परमाणुओं में समता से रहता है। ऊपर के दोनों विभाग विद्युत् ही कहे जाते हैं। ऐसे कम्पयुक्त परमाणुओं से ही सब संसार बना हुआ है, इसी लिए इस में कम्प है तथा गति है। गति के परिणाम ही उत्पत्ति-लय, बनना-बिगड़ना और नाशादि माने जाते हैं। आत्मा परमाणुओं के पुंज से नहीं बना है, वह अप्राकृत सत्ता है इस कारण वह स्वरूप से अचल और अविनाशी है।

परमाणु-पुंज साम्यावस्था में केवल होना मात्र होता है। वह शक्तिरूप ही कहा गया है। वह परमाणुओं की शक्ति, उनका अचिन्त्य

अस्तित्व, परमात्मा के भाव में विलक्षणरूप से विद्यमान है। सब जीवात्माएं पारब्रह्म की अचिन्त्य सत्ता में भावरूप से विद्यमान समझे गये हैं, यही सांख्यज्ञान है। वही कालान्तर में थोड़े से विचार-भेद से वेदान्तवाद बन गया।

बुद्धियोग से भगवान् का तात्पर्य कर्मयोग और भक्तियोग है। कर्मयोग—भक्तिधर्म बुद्धि-सिद्ध है, युक्तियुक्त है और ज्ञानगन्य है, कोरी कल्पना नहीं है, निरा परोक्षवाद नहीं है और मनुष्यों का स्वाभाविक धर्म है इसी कारण इस को बुद्धियोग कहा गया है। कर्मों का करना स्वभावसिद्ध है। संसार में कोई भी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह

सकता। इसलिये कर्मयोग का दर्शनवाद यौक्तिक और बौद्धिक है, इसी कारण इस को बुद्धियोग कहा है ॥३६॥

भगवान् ने कहा, इस कर्मयोग में आरम्भ का–किये कर्म का–नाश नहीं होता, इस में विपरीतता–उल्टा परिणाम भी नहीं होता। इस धर्म का, पालन किया हुआ बहुत थोड़ा अंश भी (मनुष्य को) बड़े भारी भय से बचा लेता है ॥

शुभ कर्म का अल्पमात्र संस्कार भी कालान्तर में आत्मा को जन्म-मरण से बचा लेने का कारण हो जाता है। भक्तिधर्म का सूक्ष्म-तर बीज भी, यदि अन्तःकरण के क्षेत्र में बो दिया जाय तो वह

अवश्य ही अंकुर ले आता है और समय पाकर एक विशाल वृक्ष बन जाता है। इस से आत्मा का निश्चित निस्तार होता है। इस कर्मयोग-रूप भक्तिधर्म में यही उत्तमता है ॥४०॥

कर्मयोग से, निष्काम कर्म से तथा ईश्वरभक्ति से मनुष्य का कल्याण हो जाता है। हे कुरुनन्दन ! ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि (निश्चित धारणा, सुनिश्चित निश्चय, इस विषय में) एक ही है। और इस निष्काम कर्म में न निश्चय रखने वालों की धारणाएं बहुत शाखाओं वाली, अनन्त होती हैं॥ युक्तियुक्त, इस निष्काम कर्म में सुदृढ़ श्रद्धा रखने वालों की धारणा तो अटल होती है कि कर्मयोग से ही हमारा कल्याण

हो जायेगा। परन्तु जो जन कर्म-धर्म में विश्वास नहीं रखते वे नाना वासनाओं में फँसे हुए, अनगिनत देवों के पीछे दौड़ते हैं और अनेक स्वर्गों की प्राप्ति के उपाय करने में तत्पर बने रहते हैं ॥४१॥

ऐसे शंकाशील—अन्य कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले, भोग-विलास की कामना वाले, स्वर्गों की प्राप्ति में तत्पर, वेदवाद में उलझे हुए पण्डित लोग, जो इस जन्म-मरण के फल को देने वाली, भोग-ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले कर्मकाण्ड विशेष से बहुत भरी हुई, खिली हुई (लच्छेदार) वाणी को बोलते हैं—स्वर्गसुखों के विचित्र वर्णन मनोहर भाषा में करते हैं, उन भोग-ऐश्वर्य में आसक्त और

उस लुभावनी भाषा से नष्ट चित्तवाले जनों की बुद्धि, निश्चयात्मक नहीं होती और न ही उन की बुद्धि समाधि में स्थिर होती है ॥

वेदवाद से यहां तात्पर्य उस कर्मकाण्ड से है जो बड़े आडम्बर से स्वर्ग के भोग, ऐश्वर्य के लिये किया जाना वर्णन किया जाता है। यद्यपि ऐसे वर्णन बड़े सुन्दर हैं, चित्ताकर्षक हैं और प्रलोभन-युक्त हैं परन्तु निष्काम कर्मयोग के विपरीत हैं। केवल अर्थवाद मात्र हैं और मन को चंचल ही बनाते हैं, उन से मनुष्य की सांसारिक वासनायें ही बढ़ती हैं। इस कारण उन में सार नहीं है। ऊपर के तीनों श्लोकों का लक्ष्य, विनियोगयुक्त, सकाम यज्ञवाद है। ऐसे स्वर्ग के सुखों की

कामना करने वाले सकाम कर्मियों का निश्चय निश्चल नहीं होता, ईश्वर-भक्ति में उनकी दृढ़ श्रद्धा नहीं होती ॥४२–४४॥

हे अर्जुन ! यज्ञ विधायक–वेदवाद तीन गुणों के विषय वाले हैं (सत्व, रज और तम इन गुणोंयुक्त फलों की प्राप्ति का उपदेश देते हैं) तू तीनों गुणों से अतीत हो जा–निष्काम कर्म से ब्राह्मी अवस्था में स्थिर हो। तू सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित हो, सदा शुद्ध भाव में रह, किसी वस्तु के प्राप्त करने और प्राप्त पदार्थ के सम्भालने के बखेड़े से निश्चिन्त हो और आत्म परायण हो जा ॥४५॥

किनारों तक भरे हुए सरोवर में जितना जल होता है उतना ही (वह

सारा ही) उपयोगी हुआ करता है; किसी न किसी काम में उपयुक्त होता ही है। इसी प्रकार सब वेदवादों में जितना ज्ञान है वह सब, ज्ञानी ब्राह्मण (भगवद्भक्त) की दृष्टि में उपयोगी है॥ सर्व वेदवाद उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के मनुष्यों को लक्ष्य में रख कर वर्णन किये गए हैं, इस कारण, जल से आकराठ पूर्ण जलाशय की भांति उन का सब ज्ञान उपयोगी है। परन्तु निष्काम-कर्मी भगवद्भक्त उस में से अपने प्रयोजन का ज्ञान ग्रहण कर लता है ॥४६॥

इस प्रकार सकाम कर्म का सार-मर्म बताकर महाराज ने कहा—

कर्म ही में (कर्तव्य पालन करने में ही) तेरा अधिकार है, कर्म से उत्पन्न हुए फलों में (तेरा अधिकार) कदाचित् भी नहीं है। तू कर्मों के फलों का कारण न बन (सकाम कर्म न कर) और कर्म न करने में भी (कर्म-त्याग में भी) तेरा संग (मनोवृत्ति का झुकाव) न हो ॥

तेरे वश की बात कर्म करना ही है। तू स्वयं ईश्वर नहीं है, इस लिए कर्मों के फलों पर तेरा अधिकार नहीं है। किस कर्म का फल कितना, किस काल हो, यह बात ईश्वर के आधीन है। इस कारण भगवद्भक्तजन तो अपने कर्तव्य कर्म को श्रीभगवान् के चरणों

में अर्पण करके फलों की चिन्ता से चित्त को निश्चिन्त कर लिया करते हैं। तू फलों की लालसा से कर्म करना छोड़ दे। कर्तव्य-पालन करते हुए पुण्य-पाप के फलों के जटिल जाल में न पड़। धर्म-मार्ग में कर्तव्य कर्म करते समय, नरक आदिकों के फलों की निरर्थक कल्पना करके, अपने कर्म का त्याग कभी न कर ॥४७॥

सम रहना, ब्राह्मी स्थिति में रहना तथा ईश्वरपरायण होकर निष्काम कर्म करना योग है। हे अर्जुन! कर्मों के फलों की इच्छा छोड़ कर, योग में रहता हुआ तू कर्मों को कर। सफलता तथा निष्फलता में सम होकर–तू कर्मों को कर। समता को ही योग कहा

जाता है ॥ कार्य की सफलता में, निष्फलता में, हानि में, लाभ में, सुख में, दुःख में और जय-पराजय आदि में अपनी मनोवृत्ति को विषम न बनने देना, शान्त और सम रखना ही योग है। चित्त की समता का नाम ही समाधि है। ऐसा समभावयुक्त योगी, अपने सब कर्तव्य कर्म करता हुआ नारायण में निवास करता है। वह ब्रह्मस्थ ही कहा गया है ॥४८॥

हे अर्जुन ! बुद्धियोग से (निष्काम कर्म से) भिन्न कर्म निश्चय से अति तुच्छ है। इस कारण—तू समबुद्धि का आश्रय ग्रहण करने की इच्छा कर—समभाव रख कर कर्म करने की इच्छा कर। फल की

कामना करने वाले मनुष्य कृपण हैं—अति दीन हैं ॥४६॥ निष्काम कर्म कर्ता—समबुद्धि वाला मनुष्य यहां ही पुण्यपाप दोनों को त्याग देता है, उस को पुण्य पाप दोनों नहीं स्पर्श करते। इस कारण योग के लिए (कर्मयोग के लिए) तू प्रयत्न कर। कर्मों में कुशलता ही योग है॥ फल की इच्छा मन में रख कर कर्म करना संग है, फल का साथ है, फल की कामना सहित कर्मों को करना सकाम कर्म है। भेद केवल इतना है कि यज्ञों में और अन्य अनेक कृत्यों को करते समय जिस कर्म-फल का उद्देश्य धार कर कर्म किया जाता है वह संग है और जो प्रत्येक समय लाभ आदिक की मन में चाह करते हुए

कर्म किया जाता है वह सकाम कर्म है। इन दोनों भावों को छोड़ कर, कर्म करना मेरा कर्तव्य है इस भाव से, समबुद्धि रह कर कर्तव्य पालना कर्मयोग है। कर्मयोग में इस प्रकार कर्तव्य भाव और सम-भावना रखना ही बड़ा चातुर्य है, सियानापन है। ऐसा कर्मकुशल जन सभी कर्मों के लेपों से निर्लेप बना रहता है। उस को कर्मों के संस्कार नहीं बांधते। उस के निष्काम कर्मों का परिणाम परमात्मा के परमपवित्र धाम की प्राप्ति ही होता है ॥५०॥

कर्मयोगी, भगवद्भक्तों को क्रियमाण कर्मों के संस्कार तो नहीं स्पर्श करते, साथ ही–निश्चय से कर्मयोग की समझ वाले, विवेकीजन,

फल को छोड़ कर, जन्म और कर्मों के पुराने बन्धनों से भी मुक्त होकर रोगरहित (दुःख-रहित) परमात्मा के परम-पद को पाते हैं ॥

शुभाशुभ कर्मों को करने से उनके संस्कार अन्तःकरण को बांध लेंगे। उन संस्कारों से अच्छे बुरे जन्मों में जाना पड़ेगा। इन विचारों को त्याग कर विवेकी जन अपने कर्तव्य कर्म किया करते हैं। उनका दृष्टिबिन्दु, केवल निज कर्तव्य पर ही टिका रहता है। वे कर्मों के फलों की उपेक्षा करके कर्तव्यपरायण रहते हैं। ऐसे समबुद्धियुक्त भगवद्भक्त, जन्मजन्मान्तरों के कर्मों के बन्धनों को काट कर, जन्म-मरण और दुःख-रहित परमेश्वर के परम धाम को प्राप्त कर लेते हैं।॥५१॥

जब तेरी निश्चयात्मक बुद्धि मोह के (अज्ञान के) कीचड़ को पार कर जायगी (उससे पार निकल जायगी) तभी तू सुने हुए और सुनने योग्य विषय के विशेष ज्ञान को प्राप्त करेगा ॥ देह आदि में आत्मभावना और नाशवान् वस्तुओं में आसक्ति मोह है । बन्धु-स्नेहवश निज कर्तव्य को त्याग देना भी मोह है । ऐसा मोही मनुष्य, व्यर्थ के तर्क–वितर्क से, भले-बुरे कर्म-फलों के गोरख धन्धे में ही पड़ा रहता है । वह सुने हुए शास्त्र के सत्य को नहीं जान सकता और चंचल बुद्धि होने से सुनने योग्य उपदेश के ज्ञान को भी नहीं प्राप्त कर पाता ॥५२॥ हे अर्जुन ! नाना श्रुतियों से (सुनी हुई पांथिक बातों से)

विचलित हो गई हुई तेरी बुद्धि (समता रूप में) जिस समय अचल, स्थिर हो जायगी, उस समय तू समभाव समाधि में, सुस्थिर बुद्धि-रूप कर्मयोग को प्राप्त करेगा ॥ ग्रन्थों के प्रमाणों से और मतों के माने हुए मन्तव्यों से तेरी बुद्धि, नरक स्वर्ग की कल्पना के उन्मार्ग में उलझ गई है। वह जब स्वभाव में स्थिर हो जायगी, तब तू कर्मयोग को पायगा—तब तुझे सम रह कर कर्म करने की रुचि होगी ॥५३॥

अर्जुन ने पूछा

हे आनन्दकन्द श्रीकृष्ण ! निश्चल बुद्धि वाले मनुष्य की और

समाधि में स्थिर मनुष्य की क्या भाषा है, उसके क्या लक्षण है? स्थिरमति-युक्त मनुष्य क्या कहे? क्या (कैसे) बैठे और कैसे चले अर्थात् उस के लक्षण क्या हैं? उस का रहना-सहना कैसा होता है? ॥५४॥

श्री भगवान् ने कहा

हे अर्जुन! मनुष्य, जब मन में उठने वाली सर्व कामनाओं को (सब विषयों की वासनाओं को) भली-भांति छोड़ देता है (वश में कर लेता है) और अपनी आत्मा में अपने आप से सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थिर बुद्धिवाला कहा जाता है॥ आत्मा परमात्मा में पक्की

धारणा वाला मनुष्य स्थिरप्रज्ञ है, वही मनोगत मनोरथों को वश में कर सकता है। जो जन अपनी आत्मा को ही सुखस्वरूप समझ कर अपने आप में सन्तुष्ट है, बाहरी विषय-जन्य सुखों की कामनाओं के पीछे मन को नहीं भटकाता, वह स्थिरमति कहा गया है॥ यही लक्षण है जिस से स्थिरप्रज्ञ पहचाना जाता है ॥५५॥

जो जन दुःख में व्याकुल मन वाला न हो (न घबराये), जो सुखों में (नवीन सुखों की प्राप्ति की) इच्छा रहित हो और जिस का राग, भय, क्रोध दूर हो गया है, वह स्थिरबुद्धि मुनि कहा जाता है। अनुकूल वस्तु में प्रीति होना राग है। प्रतिकूल वस्तु में वा व्यवहार में द्वेष

का होना क्रोध है। प्रियवस्तु के वियोग तथा नाश के विचार से भय हुआ करता है। अपने प्यारे प्राणों की पीड़ा का ध्यान करके भी भय हो जाया करता है। ये तीनों वृत्तियां मनुष्य की बुद्धि को चलायमान कर दिया करती हैं॥ इस लिए जिस जन ने इन तीनों को जीत लिया है वह कर्मयोगी स्थितप्रज्ञ कहा गया है, यह पहले प्रश्न का उत्तर है ॥५६॥

कर्तव्य कर्म में तथा भक्तियोग में रहते हुए, उसके मार्ग में जो जो शुभाशुभ (अनुकूल-प्रतिकूल) पाकर जो जन सर्वत्र राग-रहित्त है, जो मनोवांछित वस्तु पाकर हर्ष नहीं करता और प्रतिकूल से द्वेष

नहीं रखता, उस वीतराग की बुद्धि स्थिर है॥ अनुकूल प्रतिकूल के संयोग में एक रस रहने वाला स्थिरमति है। कर्मयोग में रहते हुए शुभाशुभ का मिलाप अवश्य होता है, अच्छे बुरे मनुष्य मिलते ही रहते हैं और सुसमय कुसमय आया ही करते हैं। उनमें समभाव से रहना, डांवांडोल न होना स्थिर बुद्धि का चिह्न है, स्थितप्रज्ञ कैसे बोले यह उस का वर्णन है ॥५७॥

जैसे कछुआ (भयकारी जीव को देख कर) अपने अंगों को समेट लेता है (अपनी खोपड़ी में संकुचित कर लेता है), इस प्रकार (जब यह मनुष्य) आंख आदि इन्द्रियों को रूप आदि विषयों से हटा

लेता है (अपने वश में कर लेता है), तब उस संयमी की बुद्धि निश्चल हो जाती है ॥ जो संयमी मनुष्य, कछुए की भांति, अपनी इन्द्रियों को पापमय विषयों के देखने सुनने आदि से पीछे लौटा लेता है— उन को अनुचित विषयों के क्षेत्र में नहीं विचरने देता-उस विवेक-विचारवान् की बुद्धि प्रतिष्ठित है। सत्य में, कर्तव्य के पालने में तथा अपने आप में स्थिर है ॥५८॥

निराहार रह कर तप करने वाला भी तो इन्द्रियों को विषयों से सिकोड़े पड़ा रहता है। इस पर भगवान् ने कहा, अन्न जल का खान-पान न करने वाले निराहार देहधारी के इन्द्रियों के विषय तो निवृत्त हो

जाते हैं परन्तु लालसा को छोड़ कर निवृत्त होते हैं, उनके भोगने के लिए उस तापस की तृष्णा बनी रहती है। पर वह रस भी–मनोगत विषय-लालसा भी–परम पुरुष (परमेश्वर को) देख कर दूर हो जाती है ॥ निराहार रहने से देह दुर्बल और शक्ति क्षीण हो जाती है। उस से कर्महीन, कोरा तपस्वी आलसी सा बना पड़ा रहता है और मन ही मन उपवास के पश्चात् के पदार्थों के उपभोग का चिन्तन किया करता है। निरा निरन्न रहने से उस की लालसा नहीं निवृत्त होती। परन्तु जो जन आत्मा को जानता है और परमेश्वर का पक्का विश्वासी है, वह कर्तव्य-शील उचित पदार्थों का उपभोग–उपयोग–करता हुआ

भी रसरहित होता है। अध्यात्मज्ञान से विषय-तृष्णा आप ही आप निवृत्त हो जाती है। विषयातीत अवस्था परम प्रभु के प्रेम से भगवद्-भक्त को सुलभ हुआ करती है। परम पुरुष का प्रेम किसी उपवास आदि क्रिया का फल नहीं होता, वह तो केवल जगत्कर्ता की अकारण कृपा का प्रकाश ही कहा गया है ॥५९॥

परम पुरुष की पराप्रीति से रहित होने पर–हे कुन्ती के पुत्र ! यत्नशील पण्डित पुरुष के मन को भी मथन करने वाली इन्द्रियां बलात्कार से हर ले जाती हैं, अपने साथ बलपूर्वक खींच कर ले जाती हैं ॥ अध्यात्मज्ञान के बिना कोरा अभ्यास संयम में सफल नहीं बना

सकता है ॥६०॥ इस कारण इन्द्रिय-संयम करने वाले को चाहिए कि–उन सब इन्द्रियों को वश में करके, योग-युक्त (अभ्यासी) जन मुझ में परायण होकर रहे–मुझ में प्रीति और श्रद्धा रखे। निश्चय से, जिस श्रद्धालु की इन्द्रियां वश में हैं उस की बुद्धि स्थिर है॥ परम पुरुष की प्रीति के पथ पर आरूढ़ मनुष्य का पतन कदापि नहीं होने पाता। वह श्रद्धावान् बड़ी सुगमता से इन्द्रियों का संयम कर लेता है। भक्ति-भाव में मग्न मनुष्य सहज से संयमी हो जाता है। स्थिरबुद्धि कैसे रहे इस में बताया है ॥६१॥

असंयमी मनुष्य के मन में वासना का बीज पड़ कर जिस प्रकार

पाप का पेड़ बना करता है उस पर श्रीमहाराज ने कहा, बुरे विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का उन विषयों से संग हो जाता है—वह उनके भोग-उपभोग में आसक्त हो जाता है। उस आसक्ति से कामना जगती है, कामना से क्रोध बढ़ जाता है, क्रोध से संमोह (मूढ़ता, कार्याकार्य में अविवेक) उत्पन्न हो जाता है, संमोह से स्मृति में भ्रम हो जाता है (स्मृति ठीक नहीं रहती), स्मृति भ्रष्ट हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नष्ट होने पर वह विषयों में आसक्त मनुष्य ही नष्ट हो जाया करता है॥

मनुष्य के हृदय में पहले बाहरी विषयों के उपभोग का चिन्तन

उत्पन्न होता है। बार-बार के चिन्तन से उसी प्रकार के संस्कारों की जो परम्परा बन जाती है वही वासना कही जाती है। वह वासना चिन्तन किये हुए विषय के साथ एक दिन अवश्य ही जोड़ देती है। वही लगाव, विषय-संग कहा गया है। उस लगाव से विषयों के उपभोग से तृप्ति तो होती ही नहीं किन्तु कामना–तृष्णा–अधिक बढ़ जाया करती है। मैं और अधिक पदार्थों का उपभोग करूँ, ऐसी कामना ही काम कहाती है। किसी की भी सब कामनाएँ कभी पूर्ण नहीं होतीं। एक की कामना का दूसरे की कामना के साथ संघर्ष अवश्य होता है, जिस से स्वार्थ में बाधा डालने वाले के साथ क्रोध करने की प्रवृत्ति

हो जाती है। परस्पर कलह क्लेश करने पर क्रोध के बढ़ जाने से मनुष्य में मोह छा जाता है, उसे उचित अनुचित का विवेक-विचार-नहीं रहता। ऐसे अविवेक से मनुष्य की स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, उसको यह भी ज्ञान नहीं रहता कि इस समय क्या कहना और करना उचित अथवा अनुचित है। स्मृति के भ्रष्ट हो जाने पर सत्यासत्य के ज्ञान की बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धि के नाश से पाप का पेड़ इतना विशाल हो जाता है, अज्ञान इतना प्रबल हो जाया करता है कि उस से अन्त में उस मनुष्य का ही नाश हो जाता है--उस की आत्मा का ही पतन हो जाता है। इस कारण विवेकी मनुष्य को चाहिए

कि यह बुराई के विचार ही हृदय में न आने दे, पाप के संकल्पों को ही रोक दे ॥६२–६३॥

परन्तु अपने आत्मा अथवा मन को स्वाधीन रखने वाला जन, रागद्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरता हुआ भी प्रसन्नता को प्राप्त करता है। इस में कैसे विचरे यह बताया है ॥ वह आत्मज्ञानी उचित विषयों का उपभोग करके भी प्रसन्न रहता है। उस में तृष्णा और क्रोध आदि दोष उत्पन्न नहीं होते। उस का आत्मा अज्ञान के अन्धकार से ऊपर विमल बना रहता है ॥६४॥ ऐसी प्रसन्नता के होने पर उस आत्मज्ञानी के सर्व दुःखों का नाश हो

जाता है। प्रसन्नचित्त जन की बुद्धि तुरन्त सुस्थिर हो जाती है ॥ आत्मज्ञान से, इन्द्रियसंयम से, मन को वश में करने से मनुष्य को प्रसन्नता प्राप्त हुआ करती है। कामना के पीछे दौड़ने वाले को तो कभी भी शान्ति नहीं मिलती। वह सदा ईर्ष्या और क्रोध की अग्नि से जलता रहता है। ऐसे अशान्त मनुष्य की बुद्धि भी संशय से, छल से, असत्य से, द्रोह से और स्वार्थ तत्परता से अति चंचल बनी रहा करती है। इस कारण संयम, मन की विमलता और चित्त की प्रसन्नता, बुद्धि के शीघ्र स्थिर हो जाने के उत्तम साधन हैं ॥६५॥

निष्काम कर्म करने वाले, विषयों में अनासक्त और भगवद्भक्त

आत्मज्ञानी को ही युक्त–योगयुक्त–कहा है। जो जन योगयुक्त नहीं है वह अयुक्त कहा गया है। महाराज ने कहा, अयुक्त मनुष्य की बुद्धि स्थिर नहीं होती और अयुक्त में भक्तिभाव भी नहीं होता। और जो भक्तिभाव नहीं रखता उसको शान्ति नहीं होती। अशान्त जन को सुख कहां से हो ?॥ किसी के साथ जुड़ना मिलना ही युक्त-पन है। इन्द्रिय-संयम द्वारा, प्रभु-भक्ति पूर्वक कर्तव्य-परायणता ही विश्व की आत्मा के साथ मिलने का उपाय है। इस लिए इसे योग कहा जाता है। ऐसे योग से युक्त जन ही स्थिरबुद्धि और भक्ति-भावनावान् होता है। वही शान्ति और सुख को लाभ करता है।

स्थिर बुद्धि रहित और भक्तिभाव हीन जन, नाना वासनाओं और कामनाओं की तृष्णा में फंसा हुआ सदा चंचल चित्त, अशान्तमन, अस्थिर बुद्धि दिखाई दिया करता है। अशान्त मन वाला मनुष्य, दुविधा में पड़ा, दुःखी बना रहता है। वह सदा निराश, हताश और उदास दीख पड़ता है। उस को कहीं भी सुख प्राप्त नहीं होता ॥६६॥

निश्चय से विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के पीछे जो मन प्रेरित किया जाता है (इन्द्रियों के साथ भटकाया जाता है) वह इन्द्रियों का अनुगामी मन इस साधक की बुद्धि को ऐसे हरण कर

लेता है जैसे पानी में नौका को वायु खींच कर ले जाती है॥ मनोमुखी मनुष्य का मन इन्द्रियों के साथ विषयों में दौड़ता रहता है। वह मन साधनशील की बुद्धि को भी बल से खींच कर बाहरी विषयों में ले जाता है। जब बुद्धि भी ऐसे मन के अनुसार भटकने लग जाय तो अन्तर्मुख होना, प्रशान्त चित्त रहना, स्थिरता और समता को लाभ करना महा कठिन कार्य हुआ करता है॥६७॥ इस लिए हे महावीर! जिस धीर जन की इन्द्रियां, अपने विषयों से, सर्व प्रकार वश में की हुई हैं उस की बुद्धि बहुत स्थिर है॥ प्रत्येक कार्य में बुद्धि का स्थिर होना आवश्यक है। कर्मयोग में, कर्तव्य के पालन में,

अध्यात्म मार्ग में और भक्ति धर्म में तो बुद्धि का स्थिर होना अतीव आवश्यक कहा गया है। जिस मनुष्य की बुद्धि, कर्तव्य कर्म को करते हुए, सत्य पर, न्याय पर, उचितता पर, धर्म पर, करने योग्य अपने स्वाभाविक कर्म पर और अपने शुद्ध लक्ष्य पर टिकी हुई हो वह मनुष्य स्थिरबुद्धि कहा जाता है। राग-द्वेष से, सुख-दुःख से, हानि-लाभ से, अनुकूल-प्रतिकूल संयोग से, शीतोष्ण से और मान-अपमानादि से भी जो साधक अपने कर्तव्य कर्म का त्याग न करे वह स्थिरमति है। ऐसे साधक के लिए सम रहना, द्वन्द्वों का सहना, इन्द्रियों का संयम और मन का वशीकार बहुत ही उपयोगी साधन हैं।

इन्हीं से स्थिरबुद्धि मनुष्य पहचाना जाता है ॥६८॥

सब सांसारिक प्राणियों की जो रात है, उस में संयमीजन जागता है, जिस अवस्था में अन्य प्राणी जागते हैं वह अवस्था तत्त्वदर्शी मुनि की रात है, वह उस में सोता है ॥ हास-विलास, भोगोपभोग और मोह-ममता में फंसे हुए सर्वसाधारण जन विवेक में, विचार में, आत्मचिन्तन में, ईश्वर भक्ति में, ज्ञान-ध्यान में, सत्य के पालन में, न्याय में, उपकार में और अपने कर्तव्य कर्म में सोये पड़े हैं। उनकी यह रात है। इस में संयमी जागता है। वह ऊपर कहे कर्मों में तत्पर रहता है। सत्कर्मों के करने में और आत्मा परमात्मा के विश्वास में

उस की आंखें कभी भी बन्द नहीं होतीं ; वह सजग बना रहता है। अथवा सर्वसाधारण जन देह को ही आत्मा मान कर आत्मा के सत्य स्वरूप के जानने मानने में सोये पड़े हैं, अज्ञान की गाढ़ निद्रा में पड़े खर्राटे ले रहे हैं, इस विषय में स्थिरबुद्धि भगवद्भक्त जागता है। वह चैतन्य बना रहता है। वह आत्मा की अमर सत्ता का और परमेश्वर के होने का पूरा निश्चय रखता है।

प्राणी प्रायः प्राकृत पदार्थों की प्यास में, भोगों की भूख में, देह ही आत्मा है इस जड़वाद में, कामना में, स्वार्थ में, निन्दा में, ईर्ष्या-द्वेष में, क्रोध-अहंकार में तथा मोह-ममता में ही जागते रहते

हैं; इन्हीं में समय व्यतीत करते हैं। सार देखने वाले मुनि की यह रात है। वह इन में सोया रहता है। उस में ये बातें नहीं होतीं। इस लिए तत्त्वदर्शी, मननशील संयमी ही ज्ञानवान् और स्थितप्रज्ञ हुआ करता है ॥६९॥ जिस प्रकार सब ओर से नदी-नालों द्वारा भरे जाते हुए, अचल और मर्यादा में ठहरे हुए समुद्र में आप ही आप पानी प्रवेश करते हैं (और वह मर्यादा का लोप न कर के अचल बना रहता है) उसी प्रकार जिस स्थिरमति मनुष्य में सब कामनायें प्रवेश करती हैं, उसी में शान्त हो जाती हैं, उन से उस की तृष्णा नहीं उछलती, वह शान्ति को प्राप्त करता है। कामनाओं की कामना करने वाला

शान्ति लाभ नहीं कर सकता ॥

निष्काम कर्म करने वाला कर्मयोगी, भगवद्भक्त, पदार्थों की प्राप्ति से, कीर्ति सम्मान से और विजय आदि के लाभ से आप ही आप भरा जाता हुआ, सब ओर से पानी के पूर द्वारा भरे जाते हुए समुद्र की भाँति गम्भीर, अचल बना रहे, मन से उछले नहीं। उन की प्राप्ति के लिए लालायित भी न हो। वह सब पदार्थ भगवत्समर्पण करके सम-भाव से रहे, ममता में न फंसे। ऐसा मनुष्य ही शान्ति पाता है। बाहर के विषयों के पीछे भटकने वाला और कामना के पीछे भागते रहने वाला शान्ति को नहीं पा सकता ॥७०॥

जो (लालसा रहित मनुष्य) सब कामनाओं को छोड़ कर और ममता तथा अहंकार-रहित होकर विचरता है (सब कर्तव्य-कर्मों को करता रहता है) वह निष्कामकर्मी शान्ति को प्राप्त करता है ॥ अशांत रहने के कारण पदार्थों के रसों की लालसा, स्वार्थ परता और अहंकार हैं। जो कर्मयोगी इन तीनों से रहित हो कर कर्तव्यशील बना रहता है वह भाग्यवान् भगवद्भक्त संतुष्टि और शान्ति का भागी होता है ॥७१॥

हे अर्जुन! जो तुझे स्थिरबुद्धि की अवस्था बताई है—यह ब्राह्मी स्थिति है—ब्रह्म में स्थिर रहने की अवस्था है। इस स्थिति को प्राप्त

कर के मनुष्य मोह में (भ्रम में) नहीं पड़ता—उस को संशय (अज्ञान) नहीं घेर सकता। इस अवस्था में अन्त-काल (मरते समय) भी स्थिर हो कर मनुष्य ब्रह्म के निर्वाण धाम को प्राप्त कर लेता है॥ स्थिरबुद्धि, कर्मयोगी और परमेश्वर-उपासक की अवस्था ब्रह्म में रहने की हुआ करती है। वह कर्तव्य कर्म करता हुआ समाधि में और ब्रह्म में ही रहता है। ऐसे मनुष्य का लक्ष्य, एकाग्रबुद्धि से, पारब्रह्म ही होता है, इस लिए वह नट की भांति सब क्रियाएं करता हुआ लक्ष्य में ही ठहरा रहता है। इस ब्राह्मी स्थिति को एक बार भी पा कर मनुष्य फिर मोह में, अज्ञान में ग्रस्त नहीं होता। वह निश्चय-पूर्वक जन्म-मरण

के चक्कर को काट कर पार हो जाता है। उस का कर्म-बीज नष्ट हो जाया करता है। यह नारायणी अवस्था यदि किसी को युवावस्था में—मध्य आयु में—मिल जाय तो उस के अहोभाग्य हैं परन्तु यदि शुभ-संयोग से इस ब्रह्मस्थिति की पतित-पाविनी झांकी प्राणी को प्राणान्त काल में भी प्राप्त हो जाय तो इस के प्रभाव से वह परमेश्वर में ही लीनता लाभ कर लेता है। परमेश्वर के परम पवित्र परम पद को ही प्राप्त होता है ॥७२॥

ओ३म् तत्सत्, ऐसे श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्या योगशास्त्र के अन्तर्गत श्रीकृष्णार्जुन-सम्वाद का सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय समाप्त हुआ।

——o——

तीसरा अध्याय

अर्जुन ने कहा

हे दुष्टजनों को दमन करने वाले श्रीकृष्ण! यदि तू कर्म से ज्ञान को श्रेष्ठतर मानता है तो हे केशव! तू मुझ को घोर कर्म में (उग्र क्षात्र कर्म करने में) क्यों लगा रहा है? यदि तेरी सम्मति में कर्तव्य कर्म करने से ज्ञान, कर्मत्याग अधिक अच्छा है तो तू मुझे उत्तेजना देकर कर्म करने के लिए क्यों प्रेरित कर रहा है? ॥१॥ कर्म और ज्ञान की प्रशंसा की–मिली-जुली बातों से तू मेरी बुद्धि को मानो मोह रहा है–

उलझन में डाल रहा है। इस लिए (ज्ञान और कर्म में जो उत्तम है) वह एक निश्चय कर के तुम कहो जिस से मैं कल्याण को प्राप्त कर पाऊं ॥२॥

श्री भगवान् ने कहा

हे अपने मन के सन्देह को न छिपाने वाले निष्पाप अर्जुन! सरल, निष्कपट भक्त! इस लोक में, दो प्रकार की मोक्ष-मार्ग की धारणा, मैं ने प्राचीन काल में कही थी–पहले मैं ने दो प्रकार का मोक्ष-मार्ग का निश्चय, इस लोक में, लोगों को बताया था। उन में से सांख्यों (तत्त्वज्ञानियों) की ज्ञान से और योगियों की कर्मयोग से धारणा

बताई थी ॥ निष्ठा निश्चय को, धारणा को कहा करते हैं। अन्तःकरण को शुद्ध कर के आत्मा परमात्मा के स्वरूप को चिन्तन, मनन और निश्चय करते हुए ब्रह्म में लीन हो जाना, ज्ञान योगियों की निष्ठा है। और अपने सब कर्तव्य सम-भाव से, निष्कामता से करते हुए तथा परमेश्वर की पतित-पाविनी भक्ति से, परमात्मा में लीनता लाभ करना, कर्मयोगियों की निष्ठा है। पहले तो एक ही उद्देश्य को पहुंचने के ये दो मार्ग थे जो अधिकारी को देख कर बताये जाते थे। परन्तु काल के फेर से, पीछे ये दोनों मत माने जाने लगे, जिस से अनेक विद्वान् ज्ञानवाद में उलझ कर कर्मयोग की निन्दा करने लग गये थे। वे

स्वाभाविक और नियत कर्मों के करने में पाप और बंध की व्यर्थ कल्पना किया करते थे और कर्तव्य कर्म को त्याग देने का उपदेश देने लग जाते थे। ऐसे कोरे ज्ञानवाद की असारता को श्रीमहाराज ने अगले श्लोक में स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है।

कर्मों को करना आरम्भ न करने से (कर्म किये बिना ही) मनुष्य, निष्कर्मता को (ज्ञान को) नहीं अनुभव करता–कर्म न करने से ज्ञान प्राप्त नहीं होता–और न केवल त्याग करने से ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ कर्तव्य कर्मों को न करने से मनुष्य को ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। नियत कर्तव्यों के पालन करने के पश्चात् ही मनुष्य

के अनुभव तथा ज्ञान की वृद्धि होती है। चिन्तन और मनन आदि भी तो मानस कर्म ही हैं। मानसिक और शारीरिक क्रिया किये बिना ज्ञान का होना असम्भव है। कर्महीन जन संन्यासी भी नहीं हो सकता। सर्वोत्तम संन्यास तो निष्काम कर्ममय कर्मयोग है और अपने आप तक को श्रीभगवान् की शरण में समर्पण करना है ॥३–४॥ कर्मों का करना, क्रिया की प्रवृत्ति, मनुष्य में स्वभाव से है। क्रिया का होते रहना सृष्टि का स्वभावसिद्ध नियम है। इस लिये निश्चय से, कोई मनुष्य एक क्षण भर भी, कर्म किये बिना कभी नहीं रहता। क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न हुए सत्व, रज, तम गुणों से, विवशता पूर्वक, सब से कर्म

कराये जाते हैं॥ प्रकृति के तीनों गुणों की विषमता से सृष्टि चल रही है। सूर्य से ले कर एक परमाणु तक में कम्प तथा क्रिया हो रही है। संसार में कोई भी प्राकृत पदार्थ ऐसा नहीं है जो क्रिया-शून्य कहा जा सके। सब वस्तुओं के सब परमाणु, बड़े तीव्र वेग से, निरन्तर दौड़ते रहते हैं। परमाणु के अपने स्वरूप में भी दो भाग हैं, एक तमोगुण और दूसरा रजोगुण। उस के तमोगुण रूपी भाग के चहुँ ओर उस के रजोगुण के कण अत्यन्त तीव्र गति से निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं। ऐसे ही कल्पनातीत क्रियायुक्त परमाणु पुञ्जों के संयोग और विकास का परिणाम पंच महाभूत हैं। उन्हीं पंच महातत्त्वों

से जैसे सृष्टि के अन्य अनेक पदार्थ बने हुए हैं, ऐसे ही मनुष्य का शरीर भी बना हुआ है। मनुष्य के शरीर का भी प्रत्येक परमाणु एक-रस निरन्तर क्रियाशील है। इस प्रकार जब सृष्टि की सारी रचना में स्वभाव से क्रिया पाई जाती है तो मनुष्य में भी क्रिया का होना अवश्यम्भावी है। क्रिया का ही दूसरा नाम कर्म है। ऐसे नैसर्गिक कर्म के नियम को कोई मनुष्य, पल भर के लिए भी, कभी बन्द नहीं कर सकता। यह कर्म सब में अनवरत रूप से सदा होता ही रहता है। इस कारण कर्तव्य कर्म के त्याग का सिद्धान्त केवल कोरी कल्पना मात्र ही है। मनुष्य की देह में अन्य भी अनेक छोटे-मोटे कर्म रात

दिन आप ही आप, अनवच्छिन्न रूप से होते रहते हैं। हृदय का स्पन्दन, फेफड़ों की क्रिया, आन्तड़ियों का व्यापार, रक्त का बहते रहना और छोटे छोटे केन्द्रों का उत्पन्न होना तथा लय होते जाना आदि सब कर्म मनुष्य की स्वाभाविकी चेतना से होते रहा करते हैं। इन का निरोध भला कोई क्या करेगा। ऐसे असंख्य कर्मों का क्रमशः होते रहना ही मनुष्य का जीवन है। तब ऐसी अवस्था के होते हुए अकर्मवाद का मत अस्वाभाविक ही सिद्ध होता है ॥५॥

अकर्मवाद को सृष्टि-नियम के विरुद्ध बता कर महाराज ने कहा—जो जन हाथ-पांव आदि कर्मेन्द्रियों को कर्म करने से रोक कर, इन्द्रियों

के विषयों को मन से चिन्तन करता रहता है वह मूढ़ आत्मा मनुष्य मिथ्याचारी कहा जाता है॥ जो मनुष्य वाणी से वचन तो नहीं बोलता परन्तु मन से दूसरे मनुष्यों का अनिष्ट चिन्तन करता रहता है, वार्त्तालाप के लिए कामना करता रहता है वह मिथ्या आचारवान् है। जो मनुष्य हाथों और पैरों का हिलाना रोक कर आसन मारे बैठा रहता है परन्तु हाथों और पैरों के कामों का चिन्तन करता रहता है–चल कर, ग्रहण कर के, विषयों के देखने, सुनने और चखने आदि को चिन्तन किया करता है–उस का ऊपर का कर्मत्याग निरा दिखावा और बड़ा दम्भ ही है। कर्म इन्द्रियों को रोक कर मन का संयम न करना झूठा

आचार है ॥६॥ परन्तु जो विवेकी आंख आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों को मन से वश में कर के, असक्त हो कर, कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग करता है वह बहुत ही अच्छा है ॥ सांसारिक पदार्थों के उपभोग में ही तन को मग्न रखना आसक्ति है, ऐसी आसक्ति का न होना ही असक्तता है ॥७॥ हे अर्जुन ! तू नियत (स्वभावसिद्ध) आवश्यक कर्म कर। निश्चय से, न करने से कर्म करना बहुत उत्तम है और कर्म न करने से तेरे शरीर का व्यवहार भी नहीं चल सकता ॥ जन्मते ही मनुष्य का जो सम्बन्ध माता, पिता, बन्धुजन से तथा क्रमशः आयु की बढ़ती में पत्नी, पुत्र-पुत्रियां आदि तथा देश और समाज के साथ हो

जाता है वह नियत सम्बन्ध है। उन की ओर जो कर्तव्य होता है वह नियत कर्म है। ऐसे ही ज्ञान की वृद्धि करना और सेवा उपकार आदि करना भी नियत कर्म हैं। जो कर्म करना, मानव समाज के लिए नियम मर्यादा में निश्चित बंधा हुआ है वह नियत कर्म है। वह कर्म करना धर्म है। कर्म किए बिना तो शरीर का खान-पान, श्वास-प्रश्वास आदि यात्रा भी नहीं निभ सकती ॥८॥

कर्तव्य कर्मों का त्याग, जो लोग कहा करते हैं उन का यह मत है कि जो भी क्रिया की जाती है उस का संस्कार कर्ता के अन्तःकरण पर पड़ जाता है। वह संस्कार ही कर्मों का बन्धन है। उसी से जन्म-

जन्मान्तर होता रहता है। मोक्ष, बन्धन-नाश से मिलता है। इस लिए मोक्ष चाहने वाले को कर्म का करना छोड़ देना चाहिए जिस से वह कर्म-बन्धन से बचा रहे। इस पर महाराज ने कहा, हे कुन्तिपुत्र! यज्ञ से भिन्न प्रयोजन के लिए किये गये कर्मों से इस लोक में बन्धन होता है—स्वार्थ और स्वर्ग-सुख के उद्देश्य से किये हुए कर्म मनुष्य को बांधा करते हैं। इस लिए कर्मों के फलों के संग से रहित हो कर तू उस यज्ञ के लिए कर्म, भली प्रकार कर॥ दान, पुण्य, सेवा, उपकार, समाज-सुधार, दीन-हीन जन-रक्षा और पालन आदि सभी कर्म यज्ञ कहे गये हैं। ज्ञान, ध्यान, आराधन, चिन्तन भी यज्ञ ही समझा जाता

है। भगवान् का नाम-स्मरण भी यज्ञ है। अपने सब कर्म भगवान् को समर्पण कर के–उन के करने में अपना अहंकार न रख कर–नियत कर्म करते रहना यज्ञ के लिए कर्म करना कहा जाता है। ऐसे यज्ञ के लिए किया हुआ कर्म, बन्धन न बन कर, कर्ता के परम कल्याण का कारण कहा गया है ॥९॥

कर्मों का करना ईश्वरीय नियम है–इस पर भगवान् ने कहा–पहले काल में, यज्ञ के सहित प्रजाओं को उत्पन्न कर के प्रजापति ने (सब के ईश्वर ने) कहा, तुम इस यज्ञ से बढ़ो। यह तुम को मन-चाहा फल देने वाला हो। यह यज्ञ तुम्हारी मनोवांच्छित कामनाएं पूर्ण करे॥

यह सारी सृष्टि आदान-बलिदान के नियम के साथ रची गई है। प्राणिजगत् के जीवन का परस्पर बड़ा भारी सम्बन्ध है। यदि विचार की दृष्टि से देखा जाय तो यही प्रतीत होता है कि यह जगत् एक महान् यज्ञ का स्थान है। इस में एक वस्तु दूसरी के लिए बलिदान बन रही है। सूर्य अपनी किरणों से भूमि के कुण्ड में रात-दिन अपने तेज की हवि डालता रहता है। आकाश आठों पहर, तेज को ला कर, पवन का विस्तार कर के और वर्षा की घृत-धारा खींचकर, पृथिवी सहित, सब प्राणियों की पालना करता रहता है।

भूमि, वनस्पति वर्ग को अपनी देह दान दे कर पालती है।

वनस्पतियां अपने प्राणों सहित शरीरों को अर्पण कर के जलचर, स्थलचर और खेचर प्राणियों का पालन करती हैं। यह स्वाभाविक नियम में यज्ञ हो रहा है। इसी प्रकार एक मनुष्य दूसरे के आश्रित है। परिवार, जनसमाज, देश और जाति भी बलिदान के बल पर निर्भर करते हैं। स्वार्थ को त्याग कर परहित में तत्पर होना यह ईश्वरकृत नियम है। ईश्वर का आशीर्वाद है कि, हे मनुष्यो! तुम यज्ञ ही से फूलते फलते रहो ॥१०॥ प्रजापति ने फिर कहा—इस यज्ञ से तुम देवों का पालन-पोषण करो और वे देव तुम्हारा पालन करें। इस प्रकार—एक दूसरे को पोषण करते हुए तुम परम कल्याण को पाओगे। पृथिवी,

पानी और पवन आदि देवों को स्वच्छ रखने से, वनस्पतियों और पुष्पों के पालन-पोषण से, उन के द्वारा मनुष्यों का अपना पोषण होता है। मनुष्य भी एक प्रकार से देव ही है। मानव-समाज के पोषण से भी मनुष्यों का परस्पर पालन होता रहता है ॥११॥ यज्ञ द्वारा पुष्ट हुए देव, निश्चय तुम को मनचाहे भोग देंगे। उन देवों से दिये हुए पदार्थों को जो जन उन को न दे कर भोगता है, वह देवों का चोर ही है॥ अपने भोग्य पदार्थों का भाग दान न दे कर पदार्थों का उपभोग करना देवों की और जनसमाज की चोरी है ॥१२॥ दान देकर अन्न खाना यज्ञ का शेष–देवप्रसाद–कहा है। ऐसे यज्ञशेष को खाने वाले

सन्तजन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो स्वार्थी अपने लिए ही पकाते हैं (यज्ञ नहीं करते) वे पापी पाप को ही खाते हैं। परहित कर्म को कर के खान-पान करना पवित्र कर्म है। स्वार्थ का जीवन निरा पाप ही है ॥१३॥ सारा जगत् परोपकार रूप यज्ञ के सूत्र में ही पिरोया हुआ है। देखिए—सब प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। खाद्य वस्तुएं वर्षा से होती हैं। वर्षा यज्ञ से हुआ करती है। यज्ञ कर्म से होता है ॥ १४॥ कर्म वेद से उत्पन्न हुआ तू जान। वह वेद अविनाशी भगवान् से प्रकट हुआ तू समझ। इस लिए सर्वत्र विद्यमान भगवान् सदा यज्ञ में ही प्रतिष्ठित रहता है ॥ जहां शुभ कर्म होते हैं, परहित

परसेवा होती है, स्वार्थत्याग किया जाता है, अपने प्राणों तक को बलिदान बनाया जाता है, भजन-पाठ, ज्ञान-ध्यान और आत्मचिन्तन होता रहता है वही ज्ञान है। उसी ज्ञानयुक्त कर्म में परमेश्वर विद्यमान है। यज्ञ क्षेत्र ही हरिमन्दिर है। यज्ञ कर्म का करना ही उस का पूजन है ॥१५॥

इस प्रकार चलाये हुए (बलिदान के) चक्र को, इस लोक में, जो जन नहीं अनुवर्तित करता (नहीं धकेलता) उस का जीवन पाप है। वह इन्द्रियों के सुखों में रमा हुआ है। हे अर्जुन! वह व्यर्थ जीता है॥ ऊपर का उपदेश कर्मयोग की कुंजी है और सच्चे धर्म का सार

मर्म है ॥१६॥

कर्मयोग के उपदेश के अनन्तर, आत्मा में स्थिर रहने वाले की अवस्था का उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा–जो जन अपने आत्मा में ही प्रीति अथवा प्रसन्नतायुक्त है, जो अपने आत्मा में ही तृप्त हो और जो अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट हो उसे कुछ करने योग्य नहीं रहता ॥ वह केवल विश्व आत्मा के नियम का निमित्त बना हुआ उसी के सहारे से कार्य करता है। वह आत्मा से निर्लेप ही रहता है ॥१७॥ दान-पुण्य आदि–किये हुए कर्मों से (उन के फलों से) इस लोक में, उस का कोई प्रयोजन नहीं रहता और न ही करने से रह गए कर्म से

उस को कोई अर्थ है (कोई दोष है) और न ही सब प्राणियों में उस का कोई स्वार्थ का स्थान है ॥ वह कर्मों के फलाफल से ऊपर, निर्दोष और अन्य जनों से निरपेक्ष होकर कर्तव्य करता है। वह भगवान् के भरोसे पर सदा निर्भर होता है ॥१८॥ इस लिए, कर्मफलों में आसक्त न हो कर करने योग्य कर्म को, तू भी निरन्तर भली प्रकार कर, क्योंकि असक्त मनुष्य, कर्म करता हुआ, परमेश्वर के परम पद को प्राप्त करता है ॥१९॥

आत्मा में स्थित मनुष्य जिस भावना से कर्म करता है उस का निरूपण कर के भगवान् ने कहा, बड़े प्रताप वाले ऐश्वर्यशाली जनक

आदि राजा निश्चय से कर्म से ही उत्तम सिद्धि को (परम पद को) पा गये थे। मनुष्य-समाज का संग्रह (जनता का संगठन तथा भलाई) देखते हुए भी तुझ को कर्म करना ही चाहिए ॥ जनक, नहुष, मांधाता आदि सभी, कर्तव्य पालन से ही, सिद्धि को प्राप्त कर पाये थे। तू उन से कोई अधिक ज्ञानी नहीं है जो कर्मत्याग पर बल दे रहा है। तू भी शिष्ट परम्परा पर चल कर कर्म करता रह। देख, जनसमाज का भला भी तेरे कर्म करने में है। यदि तेरे जैसे गिने-चुने, माननीय मनुष्य कर्तव्य कर्म से विमुख हो जाएं और संन्यास के मार्ग पर चलने लगें तो कर्तव्य पालन में सर्वसाधारण की रुचि न रहे, जाति की बड़ी भारी

हानि हो और समाज का बड़ा अनिष्ट हो जाय। इस लिए शिष्ट पद्धति के अनुसार तथा लोक-संग्रह की दृष्टि से तुझे कर्म करना ही चाहिए ॥२०॥

जो जो (शुभाशुभ कर्म) श्रेष्ठजन करता है वही कर्म दूसरे लोग करने लग जाते हैं—साधारण जन तो बड़े मनुष्यों का ही अनुकरण किया करते हैं। वह बड़ा मनुष्य जो उदाहरण उपस्थित करता है अथवा जो नियम धर्म, प्रमाणरूप से मान लेता है जनता उसी का अनुसरण करने लग जाती है॥ जाति और धर्म के नेताओं का जीवन लोगों के लिए उदाहरण हुआ करता है। वे समाज की सम्पत्ति हुआ

करते हैं। लोग उन्हीं के पीछे चलते हैं। उन के धर्म-कर्म का, वेश-भाषा का और आचार-व्यवहार का लोग अनुकरण किया करते हैं। इस कारण अपने उत्तरदायित्व को समझ कर, श्रेष्ठजन को कर्तव्य कर्म का ही आदर्श उपस्थित करना उचित है ॥२१॥

कर्मयोग के अवतार-स्वरूप श्रीकृष्ण ने अपना उदाहरण दे कर कहा—हे अर्जुन! मुझे तीनों लोकों में भी कुछ करने योग्य नहीं है, अब मुझे कुछ भी करने योग्य शेष नहीं है। ऐसा कुछ भी नहीं जो मुझे प्राप्त नहीं है और न ही कोई वस्तु मुझे पाने योग्य ही शेष है। फिर भी मैं कर्म में तत्पर रहता हूं, करने योग्य कर्म करता ही रहता

हूं ॥२२॥ हे अर्जुन ! निश्चय से, यदि मैं कभी आलस्य-रहित, नींद-रहित होकर कर्तव्य कर्म में तत्पर न रहूँ (तो) सब प्रकार से मनुष्य मेरे मार्ग पर ही—चलते हैं—वे कर्तव्य-कर्मों का करना छोड़ बैठें, जनता में कर्तव्य-पालन का भाव ही न रहे ॥ जो मुझे आदर्श मान कर मेरे कर्मों का अनुकरण करते हैं, मेरे कर्म न करने से उन के व्यवहार में बड़ी अस्तव्यस्तता आ जाय ॥२३॥ यदि मैं कर्म न करूँ तो ये जन-समुदाय नष्ट-भ्रष्ट हो जायें (उन में आचार विचार कुछ भी न रहे) और मैं (सत्यासत्य को तथा उचितानुचित को) मिश्रित करने वाला बन जाऊं और इस प्रजा को हनन कर दूं ॥ कर्म-हीनता का उदाहरण

जनता के सामने रखने से मैं उन के आचार-विचार की हत्या का कर्ता हो जाऊँ। कर्तव्य कर्मों को न करने से जातीय दलों का नाश हो जाता है। मर्यादा की, रीति-नीति की, सम्बन्ध-पालन की, जन-संगठन की हत्या हो जाती है और जाति के जीवन की ज्योति बुझ कर कुछ भी नहीं रहती। इसी लिए समाज के सामने जनता के नाश का उदाहरण कर्म-त्याग मैं उपस्थित नहीं करता ॥२४॥ हे अर्जुन! जैसे, विद्या-रहित लोग, कर्म में आसक्त होकर, कर्म करते हैं वैसे ही लोक का संग्रह चाहने वाला विद्वान् आसक्ति से रहित होकर कर्म करे॥ फल की कामना से रहित होकर, विद्वान् को भी साधारण समझ के मनुष्यों

की भांति सभी कर्तव्य करने चाहिएं। साधारण जन जिस तत्परता से कर्मों में मग्न रहते हैं, विद्वान् जन भी जन-समुदाय का हित और संगठन चाहता हुआ, उसी तत्परता से कर्म करता रहे, परन्तु निष्काम भाव को कभी भी न छोड़े ॥२५॥

विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि त्यागवाद तथा संन्यासवाद की व्यर्थ तर्क वितर्क से—कर्म करने में तत्पर साधारण समझ के मनुष्यों में बुद्धिभेद उत्पन्न न करे—उन्हें संशयशील न बनाये। कर्मयोग-युक्त विद्वान् मनुष्य, आप भली-भांति, सब कर्मों को करता हुआ (कर्मों में तत्पर अज्ञानियों को भी) कर्मों में लगावे ॥ निरर्थक वाद-विवाद से

सर्वसाधारण को सन्देह-युक्त, डांवांडोल बना देना बुद्धि-भेद है। यों ही जनसमुदाय में बुद्धि-भेद उत्पन्न कर देना सर्वथा अनुचित है। कोरे तर्कवाद से कर्म-धर्म में, आचार-विचार में, कर्तव्य-पालन में और श्रद्धा विश्वास में मनुष्यों में बुद्धि-भेद, संशय उत्पन्न कर देना, मानव समाज का नाश करने के समान है ॥२६॥

प्रकृति (मूल कारण) के गुणों द्वारा, सर्व प्रकार कर्म कराए जाते हैं, (परन्तु कर्तापन के) अहंकार से जिस का आत्मा अतिमूढ़ है, (कर्ता-पन के अभिमान से जिस की चैतन्य शक्ति मन्द पड़ गई है वह) 'मैं कर्म करने वाला हूं' ऐसा मानने लग जाता है ॥२७॥ परन्तु, हे विशाल-

भुज ! गुण और कर्म के विभाग के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी, गुण गुणों में वर्त रहे हैं, ऐसा मान कर कर्मों में आसक्त नहीं होता ॥ प्रकृति में आवरण करना, जड़ता तमोगुण है। क्रिया का होना, परिवर्तन और गति रजोगुण है। अपने स्वभाव में रहना, मर्यादा में बर्तना और प्रकाशक होना सत्त्वगुण है। ये तीनों गुण, मनुष्य के गुणों में बर्तते रहते हैं। मनुष्यों में अज्ञान, आलस्य, निराशा, अकर्मण्यता, क्रूरता आदि तमोगुण है। अतिक्रियाशीलता, लोभादि वृत्तियों से प्रेरित हो कर कर्म करना और अति तृष्णा आदि रजोगुण है। ज्ञान और बुद्धि से युक्त हो कर शुभ कर्म का करना, इन्द्रियों के वशीभूत न

होना, मर्यादा में रहना और ज्ञान के प्रकाश से प्रसन्न बने रहना सत्त्व गुण है। प्रकृति के गुण (शक्तियां) ही मनुष्य के तीन गुणों में काम करते हैं, उन्हीं से कर्म कराए जाते हैं, ऐसा जान कर ज्ञानी मनुष्य कर्मों में आसक्त नहीं होता, कर्तापन का अभिमान नहीं करता ॥२८॥ प्रकृति के गुणों से अति मोहे हुए मनुष्य गुणों से किए जाने वाले कर्मों में तत्पर बने रहते हैं—उन को रहस्य का ज्ञान नहीं होता। उन अल्प-ज्ञानवान्, मन्दबुद्धि के मनुष्यों को पूर्ण ज्ञानी (कोरे युक्तिवाद से) चलायमान न करे। पूरे ज्ञानी को चाहिए कि कल्पनामय दर्शनवाद से उन की कर्मश्रद्धा भंग न करे, उन से कर्मत्याग न कराए, किन्तु उन को

कर्तव्य करने के लिए अधिक उत्साहित करे ॥२६॥

भक्तियोग का महत्त्व दर्शाते हुए भगवान् ने कहा—अन्तरात्मा से, सब कर्मों को मुझ में त्याग कर (समर्पण कर के) फल की आशा और ममता से रहित हो कर (और अहंकार के) ज्वर से मुक्त हो कर तू कर्तव्यमय युद्ध कर ॥ सत्य और न्याय की रक्षा करना ईश्वरीय नियम है। दूसरे प्राणी के आक्रमण से अपने प्राणों की तथा अधिकारों की रक्षा करना नैसर्गिक सिद्धान्त है। इस भाव से तू अपने सभी कर्म श्री भगवान् को अर्पण कर के कर्म कर। कर्तापन के अहंकार को तू छोड़ दे ॥३०॥ जो श्रद्धालु जन निन्दा न करते हुए, सदा इस

मेरे मत के अनुसार चलते हैं (इस मेरे शिक्षण में निश्चल निश्चय रखते हैं) वे भी कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं ॥ श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और सत्य में निष्ठा अन्तरंग कर्म हैं। कर्मेन्द्रियों द्वारा किए जाने वाले कर्म बहिरंग कर्म हैं। बाहर से भीतर प्रबल है। इस लिए श्रद्धादि भीतरी कर्म उत्तम कहे गए हैं और उन्हीं से बाहर के कर्म शुद्ध होते हैं। कर्मयोग की निन्दा न कर के, जो जन श्री भगवान् के कथनानुसार कर्म करता है वह कर्म-फल से मुक्ति लाभ कर लेता है ॥३१॥ और जो जन मेरे इस मत की निन्दा करते हुए इस के अनुसार नहीं चलते, उन को सब ज्ञानों में अतिमूढ़, बुद्धिहीन और नष्ट हो गए ही तू जान।

कर्म की निन्दा करने वाले आलसी, निरुद्यमी, निराशावादियों का नाश ही तू समझ। उन को जान कि वे ज्ञान की तो बातें बनाते हैं, परन्तु हैं सर्वज्ञान में अतिमूर्ख ॥३२॥

कर्म का करना सृष्टि-नियम है। अपनी रक्षा करना प्राणिमात्र में स्वभाव से पाया जाता है। कुछ न कुछ क्रिया करते रहना ज्ञानी अज्ञानी, सब में, समान रूप से स्वभाव है। यही प्रकृति है, स्वभाव है। भेद केवल इतना है कि ज्ञानी की प्रकृति सत्त्वगुणी होती है। उस के कर्म शुभ होते हैं। इस पर महाराज ने कहा–ज्ञानवान् मनुष्य भी अपनी (सात्त्विकी) प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है—उस से भी

अपनी स्वाभाविकी क्रिया रोके नहीं रोकी जा सकती। सब-प्राणी अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं-अपने स्वभाव के अनुसार चलते हैं। उस में कोई—निग्रह क्या करेगा-हठ से कर्म करना कैसे रोक सकेगा ?॥३३॥

इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष रहते हैं। विवेकी को चाहिए कि उन के वश में न पड़े, क्योंकि वे इस के शत्रु हैं॥ किसी के लिए भी स्वभावसिद्ध क्रिया का त्याग देना असम्भव है। इस लिए करना यही चाहिए कि बाहरी वस्तुओं के देखने सुनने आदि से उन में जो राग-गाढ़ प्रीति हो जाती है और जो द्वेष भाव बढ़ जाता है

मनुष्य उन के अधीन न हो, उन को दमन कर रक्खे, क्योंकि ये राग द्वेष कर्मयोगी के बड़े वैरी हैं। उस को सन्मार्ग से भ्रष्ट करने वाले हैं ॥३४॥ कर्मों में, कर्तव्यों में कैसी भावना हो इस पर महाराज ने कहा—अपना धर्म कर्तव्य—कर्महीन गुणमुक्त (भी हो तो भी) दूसरे के भली प्रकार पालन किये हुए कर्तव्य से अधिक कल्याणकारी है। अपने साधारण कर्तव्य में मर जाना उत्तम है—और अपने कर्तव्य को तुच्छ जान कर परधर्म (संन्यासादि कर्तव्यों को धारण करना) भयकारी है। चारों वर्णों के कर्म, मनुष्य-समाज में, सर्वत्र स्वाभाविक रीति से पाए जाते हैं। ये चारों जातीय कर्म हैं जिन में से कोई न कोई कर्म, अपनी

योग्यता के अनुसार, प्रत्येक मनुष्य को करना ही चाहिए। इन जातीय कर्तव्यों में ऊंच-नीच की भावना रखना भारी भूल है, पाप-दोष को मानना बड़ा भ्रम है और इन को त्याग देना एक निरी अविवेकता है। धर्म शब्द का बड़ा विस्तार है। इस में पारिवारिक, व्यावहारिक, पारमार्थिक सभी कर्तव्य समाए हुए हैं ॥३५॥

इस के अनन्तर अर्जुन ने पूछा–हे वृष्णिवंशज ! पाप करना न चाहते हुए भी, मानो बल से लगाया हुआ, यह मनुष्य किस से प्रेरित किया हुआ पाप को करता है ? ॥३६॥ भगवान् ने कहा–रजोगुण से उत्पन्न होने वाली यह कामना है, यही क्रोध है। यह बड़ी खाने वाली

है और बड़ी भारी पापरूपा है—इस के कारण ही जगत् में जन घोर पाप-कर्म किया करते हैं। इस लोक में तू इस कामना को वैरी जान॥ पदार्थों की प्राप्ति की अधिक इच्छा ही काम है। इसी से क्रोध आदि सब पाप उत्पन्न होते हैं। यह तृष्णा सदा अतृप्त रहती है, यही बड़ा शत्रु है ॥३७॥ जिस प्रकार, धूएं से अग्नि ढकी जाती है, मल से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढका जाता है उसी प्रकार कामना ने मनुष्य का यह ज्ञान आच्छादित कर रक्खा है ॥३८॥ हे कुन्तिपुत्र! ज्ञानियों के सदा के शत्रु, दुष्करता से पूर्ण, न तृप्त होने वाली इस काम-रूप आग ने आत्मा के ज्ञान को आवरण कर रक्खा है॥ संसार के सब सुख

भोगों की सामग्री के ईंधन भी यदि कामना की आग में डाल दिए जाएं तो भी इस का तृप्त हो जाना कठिन है ॥३६॥ इन्द्रियां, मन, और बुद्धि इस कामना के रहने के स्थान कहे जाते हैं। इन में रह कर इन्हीं से यह ज्ञान को आच्छादित कर के, देहधारी को मोह लेती है॥ इन्द्रियों का जब बाहर के विषयों के साथ संयोग होता है तब उन विषयों के देखने सुनने आदि के विचार मन में बार बार फुरने लगते हैं। वही वासना कही गई है। उसी वासना की तार से पदार्थों के भोग उपभोग की अधिक कामना बढ़ती जाया करती है। वही काम है। यह काम, मनुष्य की इन्द्रियों में और मन, बुद्धि में निवास करता

है। और इन को चंचल बना कर मनुष्य के ज्ञान को आवरण कर के उसे उन्मत्त कर देता है। विषयों की कामना आत्मा की स्वाभाविक ज्योति को मन्द कर देती है जिस से वह सत्यासत्य के विवेक से शून्य हो जाता है ॥४०॥ इस लिए हे भरतर्षभ! पहले इन्द्रियों को भली-भांति वश कर के, फिर ज्ञान और विशेषज्ञान के नाशक इस काम पापी को हनन कर। सत्यासत्य का विवेक ज्ञान है और आत्मा की सत्ता का बोध विज्ञान है, तत्त्वज्ञान है ॥४१॥

आत्मज्ञानी जन कामना को वशीभूत कर सकता है, क्योंकि कहा है—इन्द्रियां अन्य स्थूल अंगों से श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है।

मन से बुद्धि श्रेष्ठ अथवा प्रबल है और जो बुद्धि से उत्तम वा प्रबल है वह आत्मा है ॥४२॥ आत्मा इन्द्रिय आदिकों से उत्तम और प्रबल है इस लिए जगा हुआ आत्मा उन को सुगमता से वश कर के कामना को जीत सकता है ॥४३॥ इस प्रकार हे वीर ! अपने आत्मा को (निज चेतन स्वरूप को) बुद्धि से भी उत्तम और प्रबल समझ कर, अपने आत्मा से आत्मा को थाम कर के, कठिनता से जीते जाने वाले काम-रूप शत्रु को तू हनन कर दे—तू अपने चैतन्य भाव से इस का नाश कर दे ॥४४॥

ओ३म् तत्सत्, इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्णार्जुन-सम्वाद का कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

—o—

चौथा अध्याय

श्री भगवान् ने कहा, हे अर्जुन ! यह जो भक्तिमय कर्मयोग मैं ने तुझे कहा है यह कोई नवीन बात नहीं है। सूर्यवंशियों के प्रथम पुरुष–विवस्वान् को यह अविनाशी योग पहले मैं ने कहा था। विवस्वान् ने मनु को बताया। फिर मनु ने इक्ष्वाकु को कहा ॥१॥ इस प्रकार परम्परा से यह चला आया है। प्रायः–इस को राजर्षि जन जानते थे– क्षत्रिय ऋषियों में कर्म समर्पण का योग पहले पाया जाता था। हे परंतप ! वह योग दीर्घ काल के बीतने पर (काल के बड़े हेर फेर से)

नष्ट हो गया था ॥२॥ वही यह पुरातन कर्मयोग मैं ने आज तुझे कहा है। तू मेरा भक्त है और सखा है। निश्चय से यह योग एक उत्तम रहस्य है ॥ उत्तम रहस्य की बात भक्त और स्नेही मित्र को ही बतानी उचित होती है। सो मैं तुझ को कहता हूं कि कर्मयोग एक उत्तम तत्त्व है और मोक्ष का सर्वोत्तम मार्ग है। आत्मकल्याण का यह बड़ा सरल पथ है ॥३॥ अर्जुन ने कहा--आप का जन्म तो इधर का है (अब हुआ है) और विवस्वान् का जन्म बहुत पहले हुआ था। तब--मैं यह कैसे जानूं (कि यह योग) आदि में आप ने ही कहा था ॥४॥ श्री भगवान् ने कहा, हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत जन्म बीत चुके हैं।

भेद केवल इतना है कि हे परंतप ! मैं उन को जानता हूं, तू नहीं जानता ॥ मैं प्रबुद्ध और शुद्ध आत्मा होने से, पूर्ण ज्ञान द्वारा उन को जान रहा हूं और तुझ को उन का ज्ञान नहीं है ॥५॥

यद्यपि मैं अजन्मा हूं, अपरिवर्तनशील आत्मा हूं और प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी, अपनी प्रकृति को अधिकार में कर के (सूक्ष्म प्रकृति को ले कर) मैं अपनी आत्मशक्ति से (अपने संकल्प के बल से) प्रकट होता हूं ॥ साधक आत्मा का आना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए होता है और वह अपने संकल्प के बल से प्रकट हो जाया करता है ॥६॥ जब जब ही धर्म की ग्लानि होती है (धर्म मन्द पड़ जाता

है) और अधर्म का बल बढ़ जाता है, तब मैं अपने आप को प्रकट करता हूं ॥७॥ साधक आत्म-मर्यादा से–साधुओं, सभ्यों की रक्षा के लिए, दुष्टों–दुष्कर्मियों के विनाश के लिए और धर्म की स्थापना के लिए मैं, युग युग में, प्रकट होता रहता हूं। अथवा शुभ कर्मों को बचाने के लिए और पापों के विनाश करने के वास्ते, मैं समय समय पर, जन्म लेता हूं ॥ जब जनता में धर्म न रहे, मर्यादा मिट जाय, सत्य तथा न्याय का नाश हो रहा हो, उस समय भले जनों तथा भलाई को बचाने के लिए, बुरों को तथा बुराई को दूर करने के लिए और सत्य को, मर्यादा को स्थापन करने के वास्ते मैं पुरुषोत्तम आया

करता हूं ॥८॥

इस प्रकार, मेरे दिव्य जन्म और कर्म को जो जन रहस्य सहित (तत्त्व से) जानता है (उन को दैवी प्रेरणा तथा ईश्वरीय विधान समझता है) हे अर्जुन ! वह मनुष्य भी शरीर को त्याग कर फिर जन्म नहीं पाता और मुझ को ही प्राप्त करता है ॥ वह सत्संगी मुझ में ही समा जाता है ॥९॥ बहुत से, वीतराग, भय और क्रोध से रहित, ज्ञान तथा तप से पवित्र बने हुए, मुझ में लीन और मेरे आश्रित लोग, मेरे भाव को (मेरे स्वरूप को) प्राप्त हो चुके हैं ॥ मनुष्य की वृत्तियों में राग प्रबल है। भय उस से प्रबलतर है और वैरभाव सब से प्रबलतम

है। ये तीनों दोष, कर्मयोग और भक्ति-भाव के बड़े भारी विरोधी हैं। इन को छोड़ने पर ही भक्त भगवान् के स्वरूप में लीनता लाभ करता है ॥१०॥ हे अर्जुन! जो लोग जिस प्रकार (जिस विधि से) मुझ को प्राप्त होते हैं (मेरे पास आते हैं) उन को उसी प्रकार मैं ग्रहण कर लेता हूं। क्योंकि सर्व प्रकार से मनुष्य मेरे (ही बताए हुए) मार्ग पर अनुसरण करते हैं॥ ज्ञान, तप, कर्म और भक्ति आदि मार्ग सब मेरे बताए हुए हैं। परन्तु सब मार्गों का एक ही लक्ष्य, परमात्मा के परमपद की प्राप्ति होना चाहिये ॥११॥

कर्मों की सफलता को चाहते हुए, जो जन—इस लोक में देवताओं

को पूजते हैं (देव यज्ञ करते हैं और मनुष्य समाज की, सुधार उपकार सहित सेवा करते रहते हैं) निश्चय पूर्वक, इस लोक में उन के कर्मों से उत्पन्न होने वाली सफलता शीघ्र हो जाया करती है॥ इस लोक के सुधार, उपकार और सेवा आदि कर्मों का फल आप ही आप शीघ्र मिल जाता है तो फिर भगवद्भक्त, कर्मयोगी अपने कर्मों के फलों की प्राप्ति को कर्म उद्देश्य क्यों बनाये ?॥१२॥ हे अर्जुन ! गुण, कर्म के विभाग से (भेद से) चतुर्वर्ण का धर्म मैं ने ही रचा है। उस के मुझ कर्ता को भी तू अकर्ता, अविनाशी जान॥ चारों वर्णों के विद्या, शूरवीरता, चतुरता और कार्य-कुशलता आदि गुण हैं। इन उपार्जित गुणों को क्रियात्मक

रूप देना कर्म है। यह स्वाभाविक कर्ममय धर्म का कर्ता अविनाशी भगवान् ही है ॥१३॥ ऐसे अन्य अनेक स्वाभाविक नियम से, ईश्वरीय कर्म करते हुए भी–मुझ को कर्म लिप्त नहीं होते (क्योंकि) कर्मों के फल की मुझे लालसा नहीं है। मैं स्वभावसिद्ध नियम से कर्म करता हूं। इस प्रकार जो जन मुझ को (कर्ता होकर भी अकर्ता) जानता है वह कर्मों से नहीं बंध जाता। वह भी मेरी तरह अकर्ता ही बना रहता है। उस को कर्म लेप नहीं लगने पाता ॥१४॥ निष्काम कर्म के रहस्य को इस प्रकार जान कर पूर्वकाल के मोक्ष चाहने वालों ने भी कर्म किया था [कर्म-धर्म को धारण किया था]। इस लिये पूर्वजों ने जो बहुत

पहले किया था, वह कर्म तू भी कर ॥ इस लोक के धन और यश आदि फलों के लिये कर्म करना और परलोक के स्वर्ग सम्बन्धी भोगों के उद्देश्य से कर्म करना कामना सहित, सकाम कर्म है। दोनों लोकों के फलों की कामना मन में न रख कर कर्म को करना निष्काम कर्म है। ऐसा ही कर्म, हे अर्जुन ! तू कर ॥१५॥

कर्म क्या है, अकर्म (ज्ञान व संन्यास) क्या है, इस विषय में विद्वान् भी मोह (चक्कर) में पड़े हुए हैं। इस कारण मैं तुझ को कर्म बताऊंगा जिस को जान कर तू अशुभ कर्म से मुक्त हो जायगा ॥१६॥ विचार विवेकवान् मनुष्य को करने योग्य, कर्म को भी अवश्य जानना

चाहिए और निषिद्ध कर्म को भी जानना चाहिए और अकर्म को भी जानना चाहिए। कर्म की गति गहरी है–कर्म का ज्ञान अति गूढ़ है ॥१७॥ जो जन कर्म में अकर्म देखे (निष्काम रहे) और जो अकर्म में (ज्ञान त्याग में) कर्म अवलोकन करे वह जन मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह कर्मयोग-युक्त है और सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है ॥ जो जन कर्तव्यों को करता हुआ अहंकार-रहित हो, निष्काम-भाव से कर्म करता जाय उस का कर्म अकर्म है, ज्ञान है तथा त्याग है। और जो जन ज्ञान और त्याग में रहता हुआ भी यह समझे कि कर्तव्य कर्म को करना स्वाभाविक ईश्वरीय नियम है उस का ज्ञान भी कर्म है। ऐसा

निष्काम कर्मकर्ता ही उत्तम गुणी मनुष्य है। वही ज्ञान, कर्म के सच्चे सार को समझता है ॥१८॥

जिस के सर्व आरम्भ (कर्म करने के प्रयत्न) कामना के संकल्प से रहित हैं, (फल की इच्छा से वर्जित हैं) उस निष्काम भावरूप, ज्ञान की अग्नि में कर्म दग्ध कर देने वाले को, विद्वान् लोग पण्डित कहा करते हैं। निष्काम-भाव से सभी कर्म करना ज्ञान तथा त्याग ही है। ऐसे ज्ञान की आग से जिस के सब कर्मों के संस्कार भस्म हो गए हैं वह निर्लेप मनुष्य ज्ञानी कहा जाता है ॥१९॥

जो जन कर्मों के फलों की कामना को त्याग कर, निष्काम भाव

में-सदा तृप्त है (और जो इस लोक की कीर्ति आदि के आश्रय से और स्वर्गों के उपभोगों के) सहारे से रहित है वह कर्म में, अच्छी तरह, लगा हुआ भी कुछ भी नहीं करता है॥ वह सर्वथा निर्लेप बना रहता है ॥२०॥ जो जन फल की आशा से रहित है, चित्तवृत्ति को वश में किये हुए है, जो सर्वसंग्रह का त्याग किए हुए है वह केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ (केवल जन्म से प्राप्त स्वाभाविक कर्म करता हुआ) पाप को प्राप्त नहीं होता-उस को अपने कर्तव्य कर्म के करने पर पाप, दोष का लेप नहीं लगता ॥ सृष्टि-नियम में ही शरीर के पालन-पोषण और रक्षण करने आदि के कर्म हैं। उन सभी कर्मों

को करना ईश्वरकृत मर्यादा है। उस में कर्मों का कर्ता अकर्ता ही बना रहता है ॥२१॥ जो जन सहज से जो मिले उस से सन्तुष्ट है, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से पार हो गया है, जो निर्वैर है और जो सफलता, असफलता में सम है वह कर्म कर के भी बन्धन में नहीं फंसता ॥२२॥ फल में आसक्ति-रहित का, राग-द्वेष से मुक्त का, ज्ञान में स्थिरचित्त का और यज्ञ के लिए कर्म करने वाले का सारा कर्म (कर्म संस्कार) सर्वथा लय हो जाता है ॥२३॥

कर्तव्य-पालन, जनहित और सेवा आदि कर्म, यज्ञ हैं। ऐसे सभी कर्म--ब्रह्म में अर्पण हैं, बलि भी ब्रह्म में है। ब्रह्म अग्नि में ब्रह्म

द्वारा (ब्रह्म में स्थित द्वारा) हवन हुआ है। उस ब्रह्म में कर्मों की समाधि से ब्रह्म ही प्राप्त किया जाता है। ब्रह्म में सब कर्मों का समाधान, शान्त तथा समर्पण करना ब्रह्म-कर्म समाधि है। कर्तव्य कर्मों का करना ब्रह्म की विधि का विधान है, ईश्वरीय नियम है, ऐसा समझ कर कर्म करना ब्रह्म-समाधि में ही किया गया कर्म है उस से कर्मयोगी को ब्रह्म धाम का लाभ ही होता है ॥२४॥ दूसरे योगीजन दैव यज्ञ (अग्निहोत्र) को ही आराधते हैं। अन्य उपासक लोग ब्रह्मरूप अग्नि में (अध्यात्म ज्योति में) यज्ञ से ही यज्ञ को होमते हैं—अन्तर्मुख हो कर आत्मा से ही परमात्मा की उपासना करते हैं, अपनी वृत्तियों को बलि

बना, ब्रह्मवेदी पर चढ़ाते हैं ॥२५॥ अन्य प्रकार के योगीजन कान आदि इन्द्रियों को संयम की अग्नि में हवन करते हैं—इन्द्रिय संयम का यज्ञ करते हैं। दूसरी प्रकार के याजक शब्द आदि विषयों का इन्द्रियों की आग में होम करते रहते हैं॥ वे हरि-अनुरागी जन, भक्तिभाव-भरे सुरीले गीतों से, रस-सने स्वरों से, कीर्तनों से, भजनों से तथा पवित्र पाठों से और ऐसे ही उत्तम ग्रन्थों के अध्ययन से, शुभ जनों के दर्शनों से और सत्संगादि से अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाते रहते हैं। यह उन का, इन्द्रियों में उन के विषयों का, हवन है—शुभ प्रवृत्तिमय यज्ञ है ॥२६॥ अन्य योगीजन इन्द्रियों के सब कर्मों को और प्राणों

के व्यापारों को अपने आप के संयम की अग्नि में, जो सत्यज्ञान से दीप्त है होमते रहते हैं ॥ अपने आप को नियम मर्यादा में रख कर अपनी इन्द्रियों के सब कर्मों से क्रियाशीलता का जीवन बिताते हैं, शुभकर्म करते हैं और अपने सांसों के आने जाने को भी ज्ञान से प्रज्वलित, कर्मयोग की आग में बलिदान करते हैं ॥२७॥

प्रशंसनीय व्रतों वाले, संयम, ध्यान में यत्नशील योगीजन, कोई द्रव्य से (चरु आदि पदार्थों से) यज्ञ करने वाले होते हैं, कोई तप यज्ञ करते हैं, कोई कर्मयोग वाले हैं, कोई स्वाध्याय यज्ञवान् हैं और कोई ज्ञान यज्ञ में परायण हैं ॥२८॥ उसी प्रकार, दूसरे योगी लोग अपान

में प्राण की आहुति डालते हैं–बाह्य कुम्भक करते हैं। अन्य प्राण में अपान का हवन करते हैं—आभ्यन्तर कुम्भक करते हैं। अन्य प्रकार के अभ्यासी जन अनेक प्रकार की भस्त्रिका आदि से–प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम में परायण होते हैं ॥२६॥ कई एक अभ्यासी लोग खान-पान को नियत किये हुए (मिताहारी होकर) प्राणों में प्राणों को होमते हैं—स्वास्थ्ययुक्त सदाचार का जीवन व्यतीत करते हैं। ये सभी यज्ञों से पापों का नाश कर चुके हैं और यज्ञों को जानते हैं–यज्ञों के सच्चे मर्म को समझते हैं ॥३०॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! यज्ञ कर के बचा हुआ (अन्न खाने वाले) अमृत खाने

वाले हैं–उन का भोजन अमृत है। वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। यज्ञ न करने वाले का यह लोक ही नहीं है, तो दूसरा लोक कहां से हो सकता है॥ ऊपर कहे यज्ञों में से कोई भी यज्ञ कर के भोजन करना भगवान् का अमृत प्रसाद पाना है। उस से मनुष्य के दोनों लोक सुधर जाते हैं। और यदि इन कर्मों में से कोई भी शुभ कर्म न किया जाय तो इस लोक का जीवन ही बिगड़ जाता है, परलोक की तो कथा ही कौन कहे ॥३१॥ ऊपर कहे प्रकार से—ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ वेद मुख से (वेदवाणी से) विस्तृत हुए हैं—विस्तार से वर्णन किये गए हैं। उन सब यज्ञों को तू कर्म से होने वाले समझ, [कर्मों को

किये बिना कोई भी यज्ञ नहीं किया जा सकता] ऐसा जान कर तू मुक्त हो जायगा ॥३२॥ सब कर्म करने से ही सिद्ध होते हैं, इस लिए निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म अवश्यमेव करते रहना चाहिए, ऐसा ज्ञान ही ज्ञान-यज्ञ है। द्रव्य-यज्ञ से (सामग्री के होम से) ज्ञान-यज्ञ अधिक अच्छा है—कल्याण-कारक है। हे पार्थ! सर्व सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में सर्वथा समाप्त होता है॥ कर्म मात्र निष्काम भाव में, अनासक्ति में तथा समबुद्धि में पराकाष्ठा को पहुंच जाता है। कर्मों की उत्तमता और पूर्णता कर्मयोग और भगवत्समर्पण रूप सच्चे ज्ञान में ही है॥३३॥ हे अर्जुन! उस ऊपर कहे ज्ञान को, तत्त्वज्ञानी भगवद्भक्तों के समीप

जाकर, विनय से, नमस्कार से, बार बार पूछने से और सेवा से समझ। तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन तुझ को ज्ञान का उपदेश देंगे ॥ सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के उपाय नम्रता, जिज्ञासा और सेवाभाव हैं। इन्हीं से ज्ञान ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त होती है। उक्त तीनों साधन जिज्ञासु की श्रद्धा के, सच्ची लगन के और ज्ञान पिपासा के परिचायक हैं ॥३४॥

हे अर्जुन ! तब ज्ञानी लोग तुझ को वह ज्ञान बतायेंगे जिस को जान कर, तू फिर, इस प्रकार मोह में नहीं पड़ेगा (और) जिस ज्ञान से तू सब भूतों को अपने आत्मा में देखेगा अथवा मुझ में अवलोकन

करेगा ॥३५॥ यदि तू सब पापियों से भी बहुत बड़ा पापी है (घोर पापकर्मी है तो भी) ज्ञान की नौका से तू पाप-समुद्र को (बड़ी सुगमता से) तर जायगा ॥३६॥ हे अर्जुन! जैसे प्रचण्ड अग्नि लकड़ियों को भस्म कर देती है ऐसे ही सर्व कर्मों को ज्ञान की आग भस्म कर डालती है ॥३७॥ निश्चय से इस लोक में ज्ञान के सदृश दूसरा कोई साधन) पवित्र नहीं है। उस ज्ञान को, कर्मयोग से भली प्रकार सफल हो चुका हुआ मनुष्य, समय पर आप ही अपने आत्मा में प्राप्त कर लेता है ॥३८॥ इस ज्ञान को श्रद्धावान् (विश्वासी) जितेन्द्रिय और परमेश्वर-परायण मनुष्य प्राप्त करता है। इस ज्ञान को पाकर (फिर)

तुरन्त परम शान्ति को मनुष्य पा लेता है॥ कर्मयोग के, ज्ञान के और अध्यात्म-ज्ञान के तीन ही उत्तम साधन हैं—श्रद्धा, भक्ति और इंद्रिय-संयम ॥३६॥

जो ऊपर कहे ज्ञान से रहित है, श्रद्धा न करने वाला है और संशयशील है वह नष्ट हो जाता है। संशय-युक्त का न यह लोक है, न परलोक है और न ही सुख है॥ सत्य-ज्ञान का न होना, आत्मा-परमात्मा में श्रद्धाहीन होना और आस्तिक भाव में तथा कर्तव्य कर्मों में सन्देहशील बने रहना, पाप-दोष की भावना से डांवांडोल हो जाना मनुष्य के विनाश का कारण कहा गया है। सब कर्मों में संशय करने

से दोनों लोक और सुख नहीं रहते। संशय मनुष्य में कुसंग और कुतर्क से उत्पन्न होता है। बहुत बढ़ जाने से वह मनुष्य को भ्रमशील, अस्थिर-चित्त, अविश्वासी, भीरु और दुर्बल बना देता है। इस लिए संशय सुखमात्र का नाशक कहा जाता है ॥४०॥

हे धनों के विजेता अर्जुन! जिस भगवद्भक्त ने, कर्मयोग से सब कर्म श्री भगवान् में अर्पण कर दिये हैं, ज्ञान से संशय छेदन कर रक्खा है और जो आत्मावान् है (अपने आत्मा को जानता है) उस को कर्म नहीं बाँधते ॥ वह कर्म करता हुआ कर्मों के संस्कार से मुक्त ही बना रहता है ॥४१॥ इस लिए, हे भारत! अज्ञान से (आत्मा परमात्मा

और सत्कर्मों के अविवेक से) उत्पन्न हुए और हृदय में रहने वाले इस संशय को आत्मज्ञान की तलवार से काट कर योग में (भक्ति-भाव पूर्ण कर्मयोग में) तू भली प्रकार रह और (कर्तव्य को करने के लिए) खड़ा हो ॥४२॥

ओ३म् तत्सत्—इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्णार्जुन-सम्वाद का ज्ञानकर्म संन्यासयोग नामक चौथा अध्याय समाप्त हुआ ।

—o—

पांचवां अध्याय

अर्जुन ने कहा, हे श्री कृष्ण ! कर्मों के त्याग की और फिर कर्मयोग की (कर्मों के करने की) आप प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में जो कल्याणकारी है भली प्रकार निश्चय पूर्वक वह मुझे बताइये ॥१॥ श्री भगवान् ने कहा–संन्यास (ज्ञान अथवा त्याग) और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष देने वाले हैं वा उत्तम हैं। परन्तु उन दोनों में, कर्मों के त्याग से कर्मयोग (कर्तव्य कर्मों को करते रहना) बढ़ कर अच्छा है ॥२॥ जो जन—सम्बन्ध-जन्य कर्म तथा कर्तव्य कर्म करता हुआ किसी के

साथ न वैर करता है, न (किसी कर्मफल को) चाहता है वह सदा संन्यासी ही जानने योग्य है। हे महाबाहो! सुख-दुख के द्वन्द्व से रहित मनुष्य, निश्चय पूर्वक सहज से, कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ द्वेष का, वैर का, लोभ का और कामना का त्याग ही संन्यास है। कर्तव्य-कर्मों का करना त्याग देना संन्यास नहीं है ॥३॥

सांख्य (ज्ञान) और कर्मयोग को मूर्ख मनुष्य पृथक् पृथक् कहते हैं। ज्ञान और कर्म दोनों एक दूसरे से पृथक् हैं—ऐसा पण्डित नहीं कहते। पंडितजन इन दोनों को एक ही मानते हैं। इन दोनों में से—एक में भी अच्छी प्रकार स्थिर मनुष्य, दोनों के फल को लाभ

कर लेता है ॥४॥ क्योंकि जो मुक्तिधाम ज्ञानी लोग प्राप्त करते हैं वही परमधाम कर्मयोगियों से भी प्राप्त किया जाता है। इन के अन्तिम परिणाम में कोई भी भेद नहीं है। इस लिए–सांख्य और योग को (ज्ञान और निष्काम कर्म को) जो एक रूप देखता है वही (वास्तव में सत्य को) देखता है॥ इन दोनों को एक समझने वाला ही सच्चा ज्ञानी है ॥५॥

हे विशालभुज ! कर्मयोग के बिना कर्मों के त्याग को अथवा ज्ञान को प्राप्त करना कष्टसाध्य है। परन्तु निष्काम कर्म में लगा हुआ मुनि, ब्रह्म को शीघ्र प्राप्त कर लेता है ॥६॥ जो भगवद्भक्त कर्मयोग

में परायण है, जिस का आत्मा शुद्ध है, जो अपने आप को वश किए हुए है, जो जितेन्द्रिय है और जो सब प्राणियों को अपना आत्मा मानने वाला है, (अपने समान समझने वाला है) वह कर्मों को करता हुआ लिप्त नहीं होता ॥ वह कर्मों के बन्धनों से सदा अलिप्त ही बना रहता है ॥७॥

ऐसा उत्तमं मनुष्य, भक्तिभाव में रमण करने वाला—कर्मयोग से युक्त, तत्त्वदर्शी, देखते, सुनते, छूते, सूंघते, खाते, चलते, सोते, सांस लेते, बोलते, छोड़ते, लेते, आंखें खोलते और मींचते हुए भी इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों में काम कर रही हैं, ऐसे धारण करता हुआ, यह

माने कि मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूं ॥ राग-द्वेष-रहित, निष्काम भाव-युक्त, तत्त्वज्ञानी मनुष्य ऊपर वर्णन किये सब कर्मों को सृष्टि-नियम के अन्तर्गत समझे, ऐसे कर्मों में ईश्वर का विधान काम करता हुआ माने और स्वयं निष्काम रह कर, एक यंत्र की भांति शुभ कर्म करता चला जाय। विहित कर्मों में और ईश्वरीय नियम में पाप की कल्पना न करे और दोष की दृष्टि न रक्खे। सब सहज कर्मों का करना तथा कर्तव्य-कर्म में रत रहना शुभ ही जाने ॥८—६॥

ऊपर कहे विषय को अधिक स्पष्ट करते हुए भगवान् ने कहा—
जो शुद्ध विचारयुक्त मनुष्य कर्मों को, ब्रह्म में समर्पण कर के और

उन के फलों की इच्छा को त्याग कर, करता है वह पाप से (ऐसे) निर्लेप रहता है जैसे पानी से कमल का पत्ता ॥ जैसे कमल का पत्ता पानी में रहता हुआ, कीचड़ मिट्टी से पालन पाता हुआ उन दोनों से निर्लेप रहता है और पानी से नहीं भीगता। सरोवर में चाहे कितना ही जल बढ़ता चला जाय पर वह उस के ऊपर, हिलता हुआ, निर्लेप ही बना रहता है, इसी प्रकार सब कर्मों को श्री भगवान् में समर्पण कर देने वाला निष्काम-भाव-युक्त मनुष्य रक्षण, पालन आदि के सभी कर्म करता हुआ पाप के स्पर्श से सदा ऊपर ही रहता है। उस की यही धारणा हुआ करती है कि स्व तथा पर का रक्षण करना, कर्तव्य को निभाना और

समाज का हित साधना सृष्टि के स्वाभाविक कर्म में हैं। इन के संस्कार भगवद्भक्त की आत्मा को बाँधने के साधन नहीं बन सकते ॥१०॥

योगीजन कर्मों के फल की कामना को छोड़ कर आत्मा की शुद्धि के लिए केवल काया से, मन से, बुद्धि से और इन्द्रियों से भी कर्म किया करते हैं ॥ संसार के पदार्थों में आसक्त, निमग्न, मनुष्य के काम तो राग-द्वेष, वैर-विरोध और भोग-उपभोग की तृष्णा से प्रेरित हो कर होते हैं। परन्तु कर्मयोगियों के कर्म, केवल अपने कल्याण के भाव तथा कर्तव्य बुद्धि से हुआ करते हैं। उन की शारीरिक क्रिया

केवल स्वभावसिद्ध होती है। उस में वे मन बुद्धि को अधिक नहीं लगाते। जो योगी लोग विचार, विवेक, आत्मचिन्तन और जनता की कल्याण कामना किया करते हैं, उन के कर्म मानस तथा बुद्धि-जन्य होते हैं। जो योगी समबुद्धि होते हैं, कर्मयोग में तत्पर रहते हैं और ब्राह्मी स्थिति में स्थिर हो जाते हैं, उन के इन्द्रियों के कर्म ऐसे ही स्वाभाविक होते हैं जैसे सोए हुए मनुष्य के शरीर के भीतर, रात-दिन, निरन्तर अनगिनत कर्म होते रहते हैं ॥११॥

समता योगवान्, कर्मों के फलों को त्याग कर (निष्काम भावना से कर्म करता हुआ) सदा रहने वाली परम शान्ति को पाता है।

कर्मयोग-रहित, अस्थिरचित्त मनुष्य, कामना के कारण, कर्मफल में आसक्त होने पर बहुत बन्धन में पड़ जाता है ॥ सर्व कर्म ईश्वरार्पण न करने वाला, कर्मफल की कामनावश, रागद्वेष से कर्म कर के, दोषों के दुष्ट संस्कारों से कर्मबन्धन में फंस जाता है ॥१२॥

आत्मसंयमी देहधारी मन से सब कर्मों को परमेश्वर की शरण में समर्पण (त्याग) कर के कामना से न कुछ करता हुआ न ही किसी से कराता हुआ, नवद्वार वाले नगर में (शरीर में) सुख से रहता है ॥ मुखादि के छिद्र ही देहरूप नगर के नवद्वार हैं। निष्काम कर्म-कर्ता जन कामना और अहंकार से रहित हो कर इस पुर में बड़े सुख

से निवास करता है ॥१३॥

परमात्मा सर्व समर्थ है। उस का यह विश्व किसी अलौकिक नियम-मर्यादा में बंधा हुआ है। उसी नियत नियम को स्वभाव, नियति, सृष्टिक्रम और ईश्वरीय नियम आदि नामों से पण्डित पुकारा करते हैं। इस पर भगवान् ने कहा—जगत् का प्रभु (मनुष्य में) कर्तापन नहीं रचता है, न ही (उस में) कर्मों को ही रचता है और न कर्म के फलों के संयोग को रच देता है। यह सब—स्वभाव करता रहता है॥ क्रिया का करना आत्मा की अपनी स्वतन्त्र इच्छा की प्रवृत्ति है। उसी स्वतन्त्र इच्छा से या स्वाभाविकी इच्छा से—कर्म किये जाते हैं।

यदि प्रत्येक देहधारी में अपनी स्वतन्त्र इच्छा न हो और उस में कर्ता-पन भगवान् उत्पन्न कर दे, कर्म भी ईश्वर ही उस में रच देवे अथवा बिना कुछ कर्म किए इष्टानिष्ट कर्मफलों का संयोग भी जोड़ दे तो, जहां उत्तरदायित्व ईश्वर का ही हुआ, वहां स्वतन्त्र इच्छा-रहित आत्मा भी काष्ठ पत्थर के सदृश अचेतन ही सिद्ध हो जाता है। आत्मा के मानने में, फिर कोई भी सुन्दरता नहीं रहती और न ही यह विचार युक्ति-युक्त ही प्रतीत होता है। इस लिए यही भद्र है और यौक्तिक सत्य है कि देहधारी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्र इच्छा से कर्म करता है, इस लिए, उस का उत्तरदायित्व उसी पर है और वही अपने

किये का फल भोगता है। निष्काम भाव से मोक्ष भी उसी का होता है। यहा यह जानना आवश्यक है कि दुष्कर्मों का करना, अनुचित स्वरूप को देखना, अनुचित शब्द को सुनना आदि, कर्म करने की शक्ति का दुरुपयोग मात्र है। वह आत्मा की स्वभावगत शक्ति नहीं है ॥१४॥ सर्वशक्तिमान् भगवान् किसी मनुष्य के पाप को अपने ऊपर नहीं लेता है और न ही पुण्य कर्म को ले लेता है। अज्ञान से (आत्मा का) ज्ञान ढका हुआ होता है उस से प्राणी मोह में (अविवेक में) फंस जाते हैं ॥ कर्म का उस के कर्ता के साथ ही सम्बन्ध होता है। कर्मों को करने वाला कोई कृत्रिम, बनी हुई वस्तु नहीं है। वह एक सनातन

चेतन सत्ता है। जब कर्म करने का अभिमान (मैं कर्ता हूं यह भाव) उस में ही है तो कर्मों का उत्तरदाता भी वही है। यदि आत्मा बनी हुई वस्तु हो तो वह कोई सत्य वस्तु नहीं रहता और उस का नाश हो जाना भी अवश्यम्भावी नियम के अन्तर्गत है। बनी हुई वस्तु कार्य हुआ करती है। उस का कोई कारण होता है और वह अपने कारण का विकार ही समझी जाती है। कार्य का अपने कारण में लय भी अवश्य होता है। तब तो घट-पट-वत् बने हुए आत्मा के पाप-पुण्य का सारा भार, उत्तरदायित्व, उस के बनाने वाले पर जा पडता है। इस लिए, यही सत्य है कि आत्मा एक नित्य वस्तु है। वह अपनी

स्वतन्त्र इच्छा से कर्म करता है। अपने कर्मों का उत्तरदाता भी वही है। उस के ज्ञान पर, स्वाभाविक चेतन स्वरूप पर, अज्ञान का परदा पड़ जाता है, इस लिए वह माया-मोह में उलझ कर निज स्वरूप को भूल जाता है। इस लिए अपने शुभाशुभ कर्मों के करने का आरोप, ईश्वर पर करना कोरा अज्ञान है ॥१५॥

परन्तु जिन का अज्ञान, आत्मज्ञान द्वारा नष्ट हो गया है (जिन को अपनी सनातन सत्ता का बोध हो गया है और परमात्मा की निर्लेपता का पूरा निश्चय हो चुका है) उन का सूर्य के सदृश, प्रकाशमय ज्ञान उस परमपद को प्रकाशित करता है॥ उन्हीं को परमात्मा के

परम पावन स्वरूप का ज्ञान होता है ॥१६॥ जिन के ऐसे शुद्ध ज्ञान से पाप दूर हो गये हैं वे, ईश्वर में बुद्धि लगाये रखने वाले, उसी में तन्मय रहने वाले, उसी में स्थिर और उसी में अपना आश्रय रखने वाले, जहां जा कर फिर लौटना नहीं होता, उस मोक्ष धाम को जाते हैं ॥१७॥

विद्या विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और कुत्ते को पकाने वाले में, पण्डित लोग सम देखने वाले होते हैं ॥ परमेश्वर-परायण, आत्मज्ञानी, पण्डित जन सेवा के समय, सहायता के समय और रक्षा करने के काल में, ब्राह्मण और चांडाल की भेद-

भावना नहीं करते। वे सब में प्राण और चेतन भाव की स्फूर्ति एक सी ही समझते हैं। भगवान् में लीन रहने वाले जन ऊंच नीच के तुच्छ भेद भाव को भूल जाते हैं और सब की सेवा सहायता समदृष्टि हो कर करते रहते हैं ॥१८॥ ऐसी समता में जिन भगवद्भक्तों का मन स्थिर है उन्हों ने इसी देह में (रहते हुए) संसार को जीत लिया है। निश्चय से ब्रह्म निर्दोष (शुद्ध) और सब में सम है—एकरस है। इस लिए वे (समदृष्टि जन) ब्रह्म में ही ठहरे हुए हैं, ब्रह्म में ही रहते हैं॥ उन भगवद्भक्तों की स्थिति भगवान् में ही होती है ॥१९॥

स्थिर-बुद्धि, मोह (अज्ञान) रहित, ब्रह्म का ज्ञाता और ब्रह्म में

स्थित मनुष्य प्रिय को (अनुकूल वस्तु को) पा कर बहुत प्रसन्न न होवे और अप्रिय को (प्रतिकूल वस्तु को) पा कर भी दुःखी न हो जाय ॥ इष्टानिष्ट के लाभ में सम रहने का यत्न करे ॥२०॥ बाहर के (अनुकूल-प्रतिकूल) विषयों में न आसक्त होने वाला मनुष्य, जो सुख, अपनी आत्मा में प्राप्त करता है वह ब्रह्म के योग में लीन आत्मा, अक्षय आनन्द को अनुभव कर लेता है ॥ अन्तर्मुख हो कर मनुष्य को जो सुख प्रतीत होता है, जो विषयों से ऊपर आनन्द अनुभव होता है, ब्रह्म में लीन मनुष्य को वैसा ही अक्षय सुख हुआ करता है। बाहर के विषयों से हट कर आत्मा में अन्तर्मुख होने का सुख और ब्रह्म में

लीन होने का सुख दोनों सम हैं। भेद यही है कि समतायुक्त समाधि का सुख समाधि के पश्चात् भूल जाता है और ब्रह्म में रहने का सुख क्षय रहित होता है ॥२१॥ और जो इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुए भोग हैं, निश्चय पूर्वक वे दुःख का कारण ही हैं और आदि तथा अन्त वाले हैं, वे हो कर फिर नष्ट हो जाते हैं। हे कुन्तीपुत्र ! ज्ञानी मनुष्य उन में रमण नहीं करता ॥२२॥

जो मनुष्य शरीर छोड़ने से पहले (मरने से पूर्व ही) इसी देह में ही कामना और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन कर सकता है (तृष्णा और वैर के वशीभूत नहीं हो जाता) वह योगी है। वह

सुखी मनुष्य है ॥२३॥ वह जो आन्तरिक सुखयुक्त है, भीतर प्रसन्न है, ऐसे ही जो अपनी भीतर की ज्योति वाला है वह योगी ब्रह्मरूप हो कर ब्रह्म के निर्वाण पद को जाता है ॥ निर्वाण पद उस धाम का नाम है जो निर्वात है, जहां कारण-कार्य भाव की वायु नहीं है, जहां सारी रचना लय हो जाती है, जहां वासना की और कामना की वायु सर्वथा स्फुरित नहीं होती। निर्वाण का यह भी अर्थ है जिस ब्रह्मधाम में काल का, जन्म-मरण का और परिवर्तन का "वाण" नहीं काम करता है, वह दुःखरहित परम सुखमय धाम ब्रह्मनिर्वाण है। आत्म-ज्ञानी और आत्मज्योतियुक्त, कर्मयोगी ऐसे ही ब्रह्मनिर्वाणरूप परम

धाम को प्राप्त करता है ॥२४॥ जिन के पाप नष्ट हो गये हैं, जो सब प्राणियों के हित में लगे हुए हैं, जो आत्मसंयमी हैं, जिन्हों ने संशय काट डाले हैं वे ऋषिजन ब्रह्म के निर्वाण पद को पाते हैं ॥२५॥ जिन्हों ने अपना आत्मा जान लिया है, चित्त जिन के वश में है, जो काम क्रोध से सर्वथा रहित हैं उन यतियों के (यत्नशील कर्मयोगियों के) सब ओर ब्रह्मनिर्वाण रहता है ॥ भक्तिधर्मयुक्त, वीतराग, संयमी, आत्मज्ञानियों और निष्काम कर्म करने वालों के चहुं ओर ही ब्रह्म-निर्वाण हुआ करता है। वे इस लोक में रहते हुए भी ब्रह्म में ही विचरते हैं ॥२६॥

ध्यानवान् की अवस्था दर्शाते हुए भगवान् ने कहा, पांच ज्ञान इन्द्रियों के–बाहरी विषयों को बाहर कर के (बाहर ही रोक कर) और इसी प्रकार चक्षु (दृष्टि) को भृकुटि के मध्य में स्थिर कर के, नासिका में आने-जाने वाले प्राण और अपान को सम (एकरस) कर के जो जन इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को वश किये हुए है और मोक्ष में परायण है वह सदा मुक्त ही है ॥ वह जन्म को जीत चुका है। यह अभ्यास वृत्ति को सम रखने के लिए अत्युत्तम है। यह मार्ग श्रद्धा-भक्ति का है और अति सुगम है। यह मार्ग कर्मयोगियों के लिए अधिक उपयोगी है ॥२७॥ यज्ञ और तप के भोक्ता (स्वीकार करने

वाले) सब लोगों के महेश्वर और सब भूतों के हितकारी मुझ को जान कर (भगवद्भक्त कर्मयोगी) शान्ति को प्राप्त करता है ॥२८॥

ओं तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद का कर्म संन्यासयोग नामक पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

———o———

छठा अध्याय

कर्मों के फल के आश्रय रहित, जो मनुष्य करने योग्य (विहित) कर्म को करता है वही संन्यासी है और वही कर्मयोगी है। वह मनुष्य संन्यासी और योगी नहीं है जो निरग्नि है और क्रिया-रहित है॥

जो जन अग्नि का स्पर्श नहीं करता और अपने कर्तव्यों को छोड़ बैठा है वह संन्यासी, योगी नहीं है ॥१॥ हे पाण्डुपुत्र! लोग जिस को संन्यास कहते हैं उस को तू कर्मयोग जान, क्योंकि कोई भी (मनुष्य) कर्मफलों की प्राप्ति के संकल्प को त्यागे बिना योगी नहीं होता—कर्म-फलेच्छा के त्याग से ही कर्मयोगी होता है ॥२॥

योग के ऊंचे पद पर चढ़ना चाहने वाले, मननशील मुनि के लिए कर्म (करना) साधन कहा जाता है और उसी योग रूढ़ के लिए (योग में स्थिर के लिए) शान्ति साधन कहा है ॥ साधनशील को तो कर्म करने ही चाहियें और कर्मयोग में, साधनों द्वारा स्थिरता लाभ

हो जाने पर शान्ति स्वयं प्राप्त हो जाती है ॥ शान्ति कर्म करने का परिणाम है ॥३॥

निश्चय से, जब वह मननशील मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में निमग्न नहीं होता तब वह संकल्पों का त्यागी, योगारूढ़ कहा जाता है ॥ इन्द्रियों को संयम में रखने वाला योग पर आरूढ़ (चढ़ा हुआ वा स्थिर) समझा जाता है। मन को वश करना और प्रशांत चित्त रहना भी योगारूढ़ के चिह्न हैं। योगारूढ़ की अवस्था भी स्थिरबुद्धि मनुष्य के सदृश ही है ॥४॥

आत्मकल्याण की इच्छा से कर्तव्य-कर्मों को निष्काम भाव से

करना, सब कर्मों को परमेश्वरार्पण कर के करना और सभी कर्तव्य, ईश्वरीय नियम मान कर करते रहना योग है–अनन्त आत्मा के साथ सम्मिलन है। इस योग से आत्मा का उद्धार हो जाता है। यह भाव दर्शाते हुए महाराज ने कहा—ऐसा योगी अपने आत्मा से अपने आत्मा का उद्धार करे, आत्मा को अधोगति को न ले जाय। निश्चय पूर्वक आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है ॥५॥ उस मनुष्य का आत्मा, आत्मा का बन्धु है जिस ने अपना आत्मा अपने आत्मा से ही जीत लिया है–जिस ने अपने विवेक विचार से अपने आत्मा को जान लिया है। अनात्मा के (आत्मा को न

मानने वाले नास्तिक के) शत्रुपन में उस का आत्मा ही शत्रु की भांति वर्तता है॥ आस्तिकभाव, आत्मसत्ता का पक्का विश्वास, आत्मचिन्तन, श्रद्धा भक्ति आदि भावों से भावुक जन का आत्मा ही अपना बन्धु और हितकारी बन जाता है। और संशय से, अश्रद्धा से, आत्मसत्ता के अविश्वास से, परमात्मा का निश्चय न रखने से, कर्महीनता से, नास्तिक बुद्धि के शत्रुपन से नास्तिक का अपना आत्मा ही अशुभ कर्मों के कारण उस का शत्रु हो कर रहता है। जो जन अपने आप में निश्चय नहीं रखता वह आप ही अपने साथ शत्रुता करता है॥६॥ जिस ने अपना आत्मा जीत लिया है, ऐसे सर्वथा शांत मनुष्य का

ऊंचा आत्मा शीत, उष्ण, सुख-दुःख में तथा मान-अपमान में समभाव में बना रहता है। अथवा ऐसे जन के अन्तःकरण में परमात्मा विराजमान होता है ॥७॥

जो मनुष्य ज्ञान-विज्ञान से तृप्त आत्मा है (अपने स्वरूप के निश्चय में अचल है), भली प्रकार जितेन्द्रिय है और मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण में सम है (पर वस्तु में जिसे लोभ, लालच नहीं है) और अपनी कमाई में सन्तुष्ट है, वह योगी–युक्त–ऐसा कहलाता है॥ उस को, कर्मयोग-युक्त है, परमेश्वर में रहता है, ऐसा कहा जाता है ॥८॥ जो परमेश्वर-परायण जन, हार्दिक स्नेही में, मित्र में, शत्रु में, निष्पक्षपाती में,

मध्यस्थ में, द्वेषी में, बन्धु में, साधु में और पापी में समबुद्धि है वह श्रेष्ठतर है ॥ समबुद्धि से यहां यही तात्पर्य है जो घृणा-रहित है, द्वेष नहीं करता और राग तथा पक्षपात से ऊपर है ॥९॥

ध्यान में एकाग्रता प्राप्ति को चाहने वाला—योगी अकेला, चित्त के संयम-युक्त, आशा-रहित, परिग्रह-रहित हो कर, एकान्त स्थान में स्थिर हो कर अपने आत्मा को निरन्तर (परमेश्वर के नाम व स्वरूप में) लगावे ॥१०॥

पवित्र स्थान में अपने कपड़े, मृगचर्म और कुशा के एक के ऊपर दूसरे को, न बहुत ऊंचे और न अति नीचे, स्थिर आसन को बिछा

कर, चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को रोके हुए, मन को एकाग्र कर के, वहां शुद्ध स्थान में, आसन पर बैठ कर आत्मा की विशेष शुद्धि के लिए योगाभ्यास को करे ॥ ध्यान का अभ्यास करने वाला शुद्ध और एकान्त, शान्त स्थान में अकेला अभ्यास साधे। बहुत ऊंचे-नीचे आसन पर न बैठे। अधिक नीचे आसन पर कीट के चढ़ आने का विघ्न हो जाया करता और बहुत ऊंचे आसन से गिर पड़ने की आशंका बनी रहती है। आसन गुदगुदा और स्थिर होना उचित है। सब से नीचे कुशा का आसन बिछाए, उस के ऊपर मृगछाला और सब से ऊपर कपड़े का सूती आसन लगावे। ऐसे आसन पर बैठ कर सब चेष्टाओं

को रोक कर परमात्मा का ध्यान करे ॥११–१२॥

इस प्रकार–योगधारणा में स्थिर मनुष्य, देह, सिर और गर्दन को बराबर (एक सीध में) अचल रखता हुआ, इधर-उधर न देखता हुआ, अपने नाक के अग्रभाग को अच्छी तरह देख कर (नासिका के अग्रभाग में दृष्टि टिका कर) पूर्ण शांत आत्मा, निर्भय हो कर, ब्रह्मचर्य्य में रहता हुआ मन को संयम में कर के, मुझ में चित्त लगाये हुए, मुझ में परायण, योगयुक्त, मेरा ध्यान करता हुआ बैठे ॥ नासिका के अग्रभाग से भृकुटी स्थान से तात्पर्य्य है। इस भृकुटी स्थान में नेत्र बन्द कर के केवल ध्यान से देखे ॥१३–१४॥

मन के संयम-युक्त योगी, इस प्रकार आत्मा को सदा (बार-बार) ध्यान में जोड़ता हुआ, मुझ में रहने वाली निर्वाणधाम की परम शांति को प्राप्त करता है ॥ वह उपासक मेरे ध्यान से मेरे परम धाम को जा पहुंचता है ॥१५॥

बहुत से अभ्यासी केवल खान-पान को ही योग का मुख्य अंग मान कर अपनी देह की शक्ति को निराहार रह कर क्षीण कर देते हैं परन्तु महाराज ने कहा, हे अर्जुन ! समता रूप योग, अधिक खाने से नहीं सिद्ध होता और न ही केवल न खाने से होता है। अति सोने वाले का भी योग सिद्ध नहीं होता और न ही जागते रहने वाले का

योग सिद्ध होता है ॥१६॥ जिस यत्नशील जन का आहार, चलना और फिरना नियमबद्ध है, जिस की कर्मों की चेष्टा नियम-पूर्वक है और जिस का सोना जागना नियम में है उस का दुःख को नाश करने वाला योग (सिद्ध) हो जाता है ॥ नियम-पूर्वक, मर्यादा से अपने सब काम करता हुआ अभ्यासी योग में सफलता सहज से लाभ कर लेता है ॥१७॥

अभ्यास करते हुए, जब भली-भांति वशीभूत चित्त–अपने स्वरूप में ही ठहर जाता है और सब कामनाओं से तृष्णा-रहित हो जाता है तब वह जन योगयुक्त, ऐसा कहा जाता है ॥१८॥ उस की अवस्था की उपमा देते हुए महाराज ने कहा–अपने आत्मा का परमात्मा के

साथ मिलाप करने का यत्न करने वाले स्थिर चित्त योगी की स्थिर अवस्था की–वह उपमा कही गई है जैसे वायु रहित स्थान में रखा हुआ दीपक नहीं हिलता है ॥ जैसे वायुरहित स्थान में रक्खे हुए दीपक की ज्योति अकम्प होती है ऐसे ही उस योगी की मनोवृत्ति अचल हुआ करती है ॥१६॥

जिस ध्यानाभ्यास में, योग साधन द्वारा रुका हुआ चित्त (संकल्प विकल्प से) हट जाता है और जिस समता समाधि में आत्मा ही से आत्मा को आत्मा में देखता हुआ योगी प्रसन्न होता है। जिस अवस्था में इन्द्रियों के सुखों से ऊपर केवल बुद्धि से अनुभव करने योग्य जो

परम सुख है उस को यह योगी जानता है और जिस अवस्था में स्थिर हो कर यह वास्तव में चलायमान ही नहीं होता। और जिस सुख को पाकर उस से अधिक दूसरा (कोई भी) लाभ यह नहीं समझता, और जिस में रहता हुआ यह बड़े भारे दुःख से भी डांवांडोल नहीं किया जा सकता ॥ उस दुःख के संयोग से रहित स्थिति को (मनुष्य) योग नामक स्थिति जाने। वह योग निश्चय के साथ उत्साहयुक्त चित्त से साधन करना चाहिए ॥२०-२३॥

परमेश्वर का उपासक—संकल्पों से उत्पन्न होने वाली सब कामनाओं को सर्वथा त्याग कर और इन्द्रियों के समूह को सब ओर से,

मन से ही भली प्रकार वश कर के, धीरे-धीरे धैर्य्य-युक्त बुद्धि द्वारा (विचार स्फुरण से) हट जाय—प्रत्याहार करे। तत्पश्चात्—मन को आत्मा में स्थिर कर के कुछ भी न सोचे। मन को निर्विषय बना ले ॥२४–२५॥

ऊपर कही विधि इस प्रकार करनी उचित है कि—जहां-जहां से चंचल और अस्थिर मन भाग निकलता है वहां-वहां से, रोक कर, इस को आत्मा के वश में ले आवे॥ इस प्रकार मनोवृत्ति वशीभूत हो जाती है ॥२६॥ निश्चय से इस सर्वथा शान्त मन वाले योगी को, रजोगुण-रहित, पाप से वर्जित, ब्रह्मरूपता रूप उत्तम सुख प्राप्त होता

है ॥ वह ब्रह्मानन्द में लीनता लाभ कर लेता है ॥२७॥ पापरहित योगी अपने आत्मा को सदा इस प्रकार परमात्मा में जोड़ता हुआ, सहज से, ब्रह्म के संस्पर्श (मिलाप रूप) परम सुख को अनुभव करता है ॥२८॥

सर्वत्र समदर्शी, योग से युक्त आत्मा अपने आप को सब भूतों में रहता हुआ और सब भूतों को अपने आप में (विचार दृष्टि से) देखता है ॥ सब प्राणियों में आत्मभाव को पिरोया हुआ जानता है ॥२९॥ जो आत्मज्ञानी योगी सर्वत्र मुझ को देखता है (विद्यमान जानता है) और सारे विश्व को मुझ में देखता है (अपनी कृपादृष्टि

से) उस को मैं दूर नहीं करता और (अपने निश्चय, विश्वास के नेत्रों से) वह मुझे ओझल नहीं करता है॥ भगवान् अपने भक्त को एक बार ग्रहण कर के, फिर कभी भी, उसे नहीं भुलाता और न ही बाह्यी स्थिति में स्थिर विश्वासी भक्त कभी अपने परमेश्वर से विमुख होता है ॥३०॥ जो एकता में रहता हुआ अचल श्रद्धा में सुदृढ़ योगी–सब भूतों में रहने वाले मुझ को भजता है (मेरा आश्रय ग्रहण करता है) चाहे जिस अवस्था में रहता हुआ भी वह योगी मुझ में ही वर्तता है॥ अपने सभी कर्तव्य कर्म करता हुआ वह मुझ में ही विचरता है ॥३१॥ हे अर्जुन! जो भगवद्भक्त, सर्वत्र सब प्राणियों में सुख को

अथवा दुःख को अपने आत्मा के सुख-दुःख के सम समझता है (जो अपने समान दूसरों के दुःख-नाश का और सुख-सिद्धि का प्रयत्न करता है) वह परमयोगी माना गया है ॥३२॥

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन ! जो यह समतारूपी योग आप ने कहा है, (मन की) चंचलता के कारण मैं उस की स्थिर अवस्था को नहीं देखता हूं—नहीं अनुभव करता हूं ॥३३॥ हे कृष्ण ! निश्चय से मन चंचल है, मनुष्य को मथन कर देने वाला है, बलवान् है और कठिनता से झुकाया जा सकता है। वायु को वश करना जैसे कठिन है ऐसे ही उस मन का वश करना मैं दुष्कर मानता हूं ॥३४॥

महाराज ने उत्तर में कहा, हे महाबाहु ! निस्सन्देह, मन चंचल है और बड़ी कठिनता से वश किया जा सकता है, परन्तु, हे कुन्ती के पुत्र ! अभ्यास से और वैराग्य से (यह मन) वश में लाया जा सकता है ॥ जप, ध्यान आदि को बार-बार, नित्य निरन्तर करते रहना अभ्यास है और परमेश्वर की भक्ति में तत्पर हो कर, इस लोक तथा परलोक के विषय-सम्बन्धी सुखों की सर्वथा उपेक्षा कर देना वैराग्य है। सर्व कर्म परमेश्वरार्पण करना भी वैराग्य है। इन दोनों साधनों से मन वश में किया जाता है ॥३५॥ मेरा ऐसा मत है कि—असंयमी मनुष्य से समबुद्धिरूप योग प्राप्त करना कठिन है। परन्तु जिस का आत्मा वश

में है (और जो) अभ्यासवान् वा यत्नशील है वह उपाय से योग प्राप्त कर सकता है ॥३६॥

अर्जुन ने पूछा—हे कृष्ण ! जो मनुष्य यत्नशील नहीं है, योग में चलायमान मन वाला है (ध्यान में अस्थिर मन है), परन्तु है श्रद्धालु, वह योग में सम्यक् प्रकार सफलता न प्राप्त कर के (मरने के अनन्तर) किस गति को जाता है ? ॥३७॥ हे विशालभुज ! वह योग में अस्थिर, श्रद्धालु जन, ब्रह्म के मार्ग में अतिमूढ़ (भूला हुआ) क्या छिन्न–भिन्न बादल की भांति, दोनों लोकों से भ्रष्ट हो कर नष्ट नहीं हो जाता ? योगसिद्ध न होने पर क्या उस के, यह लोक और परलोक, दोनों नहीं

बिगड़ जाते ? ॥ हे कृष्ण ! इस मेरे संशय को आप सर्वथा छेदन करने योग्य हैं, क्योंकि आप से भिन्न दूसरा (कोई भी) इस संशय का छेदन करने वाला नहीं मिलता ॥३८-३९॥

उत्तर में भगवान् ने कहा—हे पार्थ ! ऐसे श्रद्धावान् मनुष्य का विनाश न इस लोक में (और) न परलोक में ही होता है। हे प्यारे ! पुराय कर्म करने वाला, कोई भी मनुष्य, दुष्टगति को (अशुभ जन्म को) नहीं पाया करता है ॥४०॥ वह श्रद्धावान् योग-भ्रष्ट, पुराय-कर्मियों के लोकों को पा कर, और वहां अनगिनत वर्षों तक रह कर (फिर) पवित्र और श्रीमानों के गृह में जन्म लेता है। अथवा बुद्धिमान्

योगियों के कुल में ही जन्म धारण करता है। जो इस प्रकार का जन्म है, (बुद्धिमन्त योगियों के घर में अवतरण होना है) निश्चय से, यह जन्म संसार में, मिलना बहुत ही दुर्लभ है। जिन गृहों में पवित्रता हो और जीवन के निर्वाह के पर्याप्त साधन हों, वहां जन्म ले कर उस के पूर्व-संचित संस्कारों का जाग जाना बहुत सुगम होता है। और ज्ञान-युक्त भगवद्भक्तों के घर में जन्म धारण करना तो बहुत ही पुण्यकर्म का परिणाम है। ऐसे कुल वा घर में जन्म ले कर उस योगभ्रष्ट के, पूर्व के संस्कारों का उदय होना शीघ्र ही सम्भव हो जाया करता है ॥४१-४२॥ वहां उस पूर्व देह सम्बन्धी कर्मयोग के संस्कारों के

संयोग को वह प्राप्त कर लेता है। हे कुरुनन्दन! मोक्ष की सिद्धि में वह फिर यत्न करने लग जाता है॥ उसी पहले योगाभ्यास से—पूर्वके संस्कारों के प्रभाव से-विवश हो वह खींचा जाता है। तब योग का वह जिज्ञासु शब्दब्रह्म से भी आगे निकल जाता है॥ शब्दब्रह्म, कर्म-काण्ड को प्रतिपादन करने वाले वेद को टीकाकार कहते हैं। वह वेद को, उस के कहे हुए कर्मों को, लांघ जाता है। अथवा शब्द प्रकृति में होता है, इस लिए प्रकृति को शब्दब्रह्म कहा है। वह अभ्यासी अपने आत्मज्ञान में और परमात्मा के अनुभव में सफल हो कर प्रकृति से पार हो जाता है-परमात्मा में लीनता लाभ कर लेता है। अथवा शब्दब्रह्म,

वाचक को—नाम को—कहते हैं। उस से आगे निकल कर, वह योगी वाच्य में, नामी में लयता लाभ कर लेता है ॥४३-४४॥

सर्वथा पाप-रहित योगी, बड़े यत्न से (पुरुषार्थ से) अभ्यास करता हुआ भी अनेक जन्मों में सफल हो कर, तब परम गति को प्राप्त कर लिया करता हैं ॥ कर्मयोग और भक्तिधर्म का आराधन करने वाला मनुष्य, पापरहित हो कर अनेक जन्मों के पश्चात् भी, अवश्य ब्रह्मधाम को प्राप्त कर लेता है। उस का नाश कदापि नहीं होता। उस के ज्ञान, ध्यान और निष्काम-कर्म का संस्कार उस को अवश्यमेव सफल बना देता है ॥४५॥

हे अर्जुन ! तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियों (कोरे विद्वानों) से भी वह बड़ा माना गया है और कर्मकाण्डियों से भी वह बड़ा है। इस लिए तू योगी बन॥ निष्काम कर्मयुक्त, समबुद्धिवान्, श्रद्धालु भगवद्भक्त का पद सब से ऊंचा है। इस कारण तू भी ऐसा ही योगी बन जा और कर्तव्य कर्म करता रह ॥४६॥ सब योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मुझ में लीन हुआ, अन्तरात्मा से मुझ को भजता है (मेरा ध्यान करता है), वह मुझ में अत्यन्त मिला हुआ माना गया है॥ अनन्य भक्त तो भगवान् में ही लीन समझा जाता है ॥४७॥

ओं तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद का ध्यानयोग नामक छठा अध्याय समाप्त हुआ।

सातवां अध्याय

श्री भगवान् ने कहा—हे पार्थ ! मुझ में मन को लगाये हुए, मेरे आश्रय में रहते हुए, योग का अभ्यास करता हुआ तू संशय-रहित मेरे सम्पूर्ण स्वरूप को जैसे जान जायगा वह तू मुझ से सुन ॥१॥ अनुभवयुक्त अथवा तत्त्वज्ञान सहित यह सम्पूर्ण ज्ञान मैं तुझे कहूंगा, जिस ज्ञान को जान कर फिर इस लोक में अधिक कुछ जानने योग्य शेष नहीं रहता ॥२॥ सहस्रों मनुष्यों में कोई–विरला ही मनुष्य इस ज्ञान की सिद्धि के लिए यत्न करता है। यत्न करने वाले सिद्धों में से

कोई ही मुझ को वास्तव में जाना करता है ॥३॥

पृथ्वी, जल, अग्नि; वायु, आकाश, मन, बुद्धि और ऐसे ही अहंकार, इस प्रकार यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है, जगत् रचने की सामग्री है ॥ प्राकृत जगत् की, जड़ पदार्थों की सृष्टि का कारण तो पंचमहाभूत हैं। उन के विकास से ही यह जगत् फैला है। और प्राणमयी सृष्टि में मन, बुद्धि और अहंकार से विकास हुआ है। यहां मन, बुद्धि और अहंभाव से तात्पर्य सुख-दुख को मानना, अनुकूल-प्रतिकूल का ज्ञान और अपने आप को पृथक्, बद्ध और देहरूप समझना है। इस आठ प्रकार की सामग्री से ही जड़ और जंगम जगत्

की सृष्टि हुई है ॥४॥ यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति अपर है-साधारण है। इस से भी अन्य परम, जीवरूप मेरी प्रकृति को, हे वीर ! तू जान ले कि जिस से यह जगत् चलाया जा रहा है॥ जीव भी ईश्वर के आश्रित हैं। उन्हीं के कर्मानुसार सृष्टि के अनेक भाव रचे गये हैं ॥५॥ तू ऐसी धारणा कर कि-सब भूतों की उत्पत्ति का, ये दोनों प्रकृतियां कारण हैं, दोनों से चराचर की उत्पत्ति हुई है। ऐसे ही सम्पूर्ण विश्व के उत्पन्न होने और प्रलय होने का कारण मैं हूं॥ मेरी इच्छा प्रकृति में प्रवेश कर के नाना विकासों का कारण हो जाती है ॥६॥

हे धनों को जीतने वाले ! मुझ से उच्चतर, अन्य कुछ भी नहीं है—मैं सब से महान् हूं। जैसे सूत्र में माला के मनके पिरोये हुए होते हैं ऐसे ही यह सम्पूर्ण विश्व मुझ में पिरोया हुआ है॥ मेरा ही नियम विश्व में काम कर रहा है॥७॥ मेरा नियम विश्व में किस प्रकार ओत-प्रोत है यह प्रकट करते हुए भगवान् ने कहा—हे कुन्तीपुत्र ! मैं जलों में रस हूं, चांद और सूर्य में प्रभा (ज्योति) हूं, सब वेदों में प्रणव प्रकृष्ट स्तुति हूं, आकाश में शब्द हूं और पुरुषों में पुरुषार्थ हूं॥८॥ पृथ्वी में पवित्र सुगन्ध मैं हूं और अग्नि में मैं तेज हूं। सब प्राणियों में जीवन मैं हूं और तपस्वियों में, मैं तप हूं॥९॥ हे पार्थ !

सब जीवों का सनातन बीज (कारण) तू मुझे समझ। मैं बुद्धिमानों में बुद्धि, प्रतिभा हूं और तेजस्वियों में तेज, प्रताप हूं ॥१०॥ बलवानों में काम और राग-रहित (स्वार्थ और पक्षपात रहित) बल, मैं हूं। हे श्रेष्ठ ! सब प्राणियों में धर्मानुसार कामना (अभीष्ट पदार्थ की चाह) मैं हूं ॥ उक्त सब वस्तुओं में जो गुण हैं, जो मर्यादा है, जो स्थिरता है, जो परस्पर संयोग-वियोग है और जो विकास है उस में मेरा ही नियत किया गया नियम काम करता है, सारे विकास-वृक्ष का बीज मेरी ही इच्छा है ॥११॥ और ऐसे ही जो भी सात्विक, राजसी और तामसी भाव हैं (भूतों में इन तीनों गुणों के परिणाम और विकास

हैं) उन को मुझ से ही हुए, तू जान, परन्तु मैं उन में नहीं हूं, किन्तु मुझ में वे हैं ॥ भगवान् तीनों गुणों के विकारों से घिरा हुआ नहीं है किन्तु तीन गुणमयी सृष्टि उस से व्याप्त हो रही है ॥१२॥ इन तीन गुणमय भावों से मोहित, यह सारा जगत्, इन तीनों गुणों से ऊपर, अविनाशी मुझ को नहीं जानता है ॥१३॥ यह तीन गुणमयी मेरी दैवी (दिव्य) माया–सृष्टि–निश्चय, कठिनता से तरी जाती है। जो जन मुझ को ही प्राप्त होते हैं (मेरा आश्रय ग्रहण कर लेते हैं) वे इस माया को तर जाते हैं ॥ भगवान् की अनन्य भक्ति से ही मनुष्य संसार सागर से निस्तार प्राप्त करता है ॥१४॥ पाप कर्म करने वाले, अज्ञानी

और अधम मनुष्य मुझ को नहीं प्राप्त होते—मेरा आश्रय नहीं लेते। उन का ज्ञान माया से हरा गया है और वे आसुरी वृत्ति को आश्रित किये हुए हैं ॥१५॥

हे अर्जुन! चार प्रकार के पुण्यकर्मी मुझ को भजते हैं—मेरी उपासना करते हैं। हे भरत श्रेष्ठ! वे आर्त्त, जिज्ञासु, प्रयोजन सिद्ध करने वाला और ज्ञानी–ये चार हैं। जो जन दुःख में, रोग में, पीड़ित होने पर, कष्ट-निवारण करने के लिए, भजन करे वह आर्त्त भक्त है। जो आत्मा परमात्मा के स्वरूप को जानने की इच्छा से उपासना करता है वह जिज्ञासु है। जो अर्थ की कामना से भजन करे वह अर्थार्थी है

और जो जन, विवेक पूर्वक, केवल आत्मकल्याण के उद्देश्य से आराधन करता है वह ज्ञानी है ॥१६॥ उन चारों में से ज्ञानी, सदा मुझ में जुड़ा हुआ और एक (अनन्य) भक्ति वाला श्रेष्ठ है। निश्चय से मैं ज्ञानी का बहुत ही प्यारा हूं और वह भी मेरा बहुत प्यारा है ॥१७॥ ये चारों प्रकार के उपासक उदार हैं (उत्तम हैं) परन्तु ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है। क्योंकि जिस से उत्तम गति दूसरी नहीं है उस मुझ में ही वह अच्छी प्रकार स्थिर हो गया हुआ है ॥१८॥ बहुत जन्मों के अन्त में (आप ही आप) ज्ञानी मुझे प्राप्त हो जाता है। सब वासुदेवमय है, ऐसा जानने वाला वह महात्मा बहुत दुर्लभ है ॥ निष्काम-कर्म

के योग से और परा प्रीति से उपासना करने वाला ज्ञानी महात्मा मिलना कठिन है। सम्पूर्ण विश्व में भगवान् की भावना करने वाला, सब में परमेश्वर को विद्यमान समझने वाला महात्मा कोई विरला ही होता है ॥१६॥

भिन्न-भिन्न कामनाओं द्वारा जिन का ज्ञान हरण हो गया है वे, कामना के अनुसार, उस उस विधि का सहारा ले कर अपनी स्वभावगत नियत प्रवृत्ति से वासुदेव से भिन्न अन्य देवताओं का आश्रय लेते हैं। कामनाओं से उत्पन्न हुई अपनी प्रकृति से वे नाना देवों की उपासना करते हैं ॥२०॥ जो जो भक्त मनुष्य, जिस जिस स्वरूप को श्रद्धा से

पूजना चाहता है, उस उस स्वरूप में, उस की उस अचल श्रद्धा को मैं स्थिर कर देता हूं ॥ उस को उसी में अधिक जानने की श्रद्धा मैं देता हूं ॥२१॥ वह उपासक (मेरी दी हुई) उस श्रद्धा से युक्त हो कर उस स्वरूप का आराधन करता है और तत्पश्चात् मेरे द्वारा ही विधान की हुई उन कामनाओं को प्राप्त करता है—उस के मनोरथों को भी मैं ही पूर्ण करता हूं ॥२२॥ परन्तु उन अल्पबुद्धि वालों के कर्मों का फल नाशवान् होता है। सार यह है कि देवों का पूजन करने वाले देवों को पाते हैं और मेरे भक्त मुझ को ही प्राप्त होते हैं ॥२३॥

मेरे परम, अविनाशी, अनुपम स्वरूप को न जानते हुए बुद्धिहीन

जन मुझ अव्यक्त (अप्रकट) को प्रकट (इन्द्रिय ग्राह्य) मानते हैं ॥२४॥ अपनी योग शक्ति से ढका हुआ मैं सब के लिए प्रकट नहीं हूं। इस कारण—यह न समझ जनसमुदाय मुझ अजन्मा और अविनाशी को भली प्रकार नहीं जानता है ॥२५॥ हे अर्जुन! जो बीत चुके हैं, जो वर्तमान हैं और जो आगे को होंगे (उन सब) भूतों को और भावों को मैं जानता हूं परन्तु मुझ को कोई नहीं जानता ॥२६॥

मेरे स्वरूप के न जानने का यह कारण है कि हे भारत! हे परंतप! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न हुए—अनुकूल प्रतिकूल आदि द्वन्द्व के मोह से (अज्ञान से) सब प्राणि इस सृष्टि में मोहग्रस्त हो जाते हैं,

सभी आत्मा-परमात्मा को भूल जाते हैं ॥२७॥ सभी वृत्तिमय बन जाते हैं और देह को ही आत्मा मान लेते हैं—परन्तु जिन पुरायकर्मी जनों का पाप नष्ट हो गया है, वे रागद्वेष आदि के द्वन्द्वों के अज्ञान से सर्वथा मुक्त, दृढ़व्रती मनुष्य मुझ को भजा करते हैं ॥ भगवान् का भजन पुरायोदय से, आत्मभावना से और मोक्ष की कामना से ही किया जाता है ॥२८॥

जो जन बुढ़ापे और मृत्यु से छूटने के लिए मेरा आश्रय ले कर भक्ति-योग के साधन करते हैं वे उस ब्रह्म को, पूर्ण आत्मज्ञान को और अखिल कर्म को जानते हैं ॥२९॥ जो उपासक, जड़ तत्त्वों के अधिष्ठाता,

और यज्ञ कर्मों के देवता मुझ को जानते हैं, मुझ में मन लगाने वाले, इस संसार से जाते समय भी मुझे जान लेते हैं—अन्त समय में उन का चित्त स्वच्छ हो जाता है ॥३०॥

ओं तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद का ज्ञान-विज्ञान-योग नामक सातवां अध्याय समाप्त हुआ ।

—o—

आठवां अध्याय

अर्जुन ने पूछा—हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? अधिभूत क्या कहा गया है और अधिदेव किसे कहा जाता है ? ॥१॥

हे मधुसूदन ! इस देह में अधियज्ञ कौन किस प्रकार है ? मरणकाल में आत्मसंयमी लोग तुझ को कैसे जान लेते हैं ? ॥२॥

श्री भगवान् ने उत्तर में कहा—परम अविनाशी सत्ता ब्रह्म है। अध्यात्म स्वभाव—वस्तु के स्वरूप—को कहते हैं। प्राणियों की उत्पत्ति और सृष्टि-निर्माण को कर्म कहा जाता है ॥३॥ भूतों में जो नाश होने का भाव है वह अधिभूत है। उस में जो पुरुष है (चेतन है) वह अधिदैवत है—जीवात्मा अधिदैव है। वह इन पांचों तत्त्वों को अधिकार कर के रहता है, इस से अधिदैवत है। हे देहधारियों में श्रेष्ठ ! यहां देह में (प्राणियों में) शुभ कर्मरूप यज्ञ का अधिष्ठाता मैं

हूं और अन्तकाल में जो मनुष्य, मुझे ही स्मरण करता हुआ देह को त्यागता है, वह मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है, इस में कोई भी संशय नहीं है ॥४--५॥

हे कुन्तीपुत्र! अथवा मरते समय जिस जिस भाव को, इष्ट वस्तु को, स्मरण करता हुआ मनुष्य देह को त्यागता है वह सदा उस भाव से प्रभावित हो कर, उस उस भाव को ही प्राप्त हो जाता है—वह वैसे ही जन्म वा स्थान को जा पाता है ॥६॥ इस कारण सब समय में तू मुझे स्मरण कर और युद्ध कर। इस प्रकार, मन और बुद्धि मुझ में अर्पित किये हुए, सन्देहरहित, तू मुझ को ही प्राप्त

कर लेगा ॥७॥ हे पार्थ ! इधर उधर न भटकने वाले, (नाम के) अभ्यास के योग से युक्त चित्त से चिन्तन करता हुआ मनुष्य दिव्य, परम पुरुष को प्राप्त होता है ॥८॥ भक्ति-भाव सहित जो मनुष्य स्थिर मन से, अभ्यास के बल से भृकुटी के बीच, भली प्रकार वृत्ति को टिका कर सर्वज्ञ, सब से पुरातन, सब के शासक, सूक्ष्मतम, सब के पालक, अचिन्त्यरूप, अन्धकार से रहित, सूर्य सदृश प्रकाशमान भगवान् को स्मरण करे, वह इस प्रकार नाम-स्मरण करने वाला, मृत्युकाल में उसी दिव्य परम पुरुष को प्राप्त हो जाता है ॥ अन्तकाल में जिस की मति सुधर जाय उस की गति सुधर जाती है। मति को सुधारने का

सब से सुगम साधन, नाम-स्मरण है और नाम-ध्यान है ॥६-१०॥

जिस को वेद के ज्ञाता जन अक्षर कहते हैं, जिस में वीतराग यति जन प्रवेश करते हैं और जिस की प्राप्ति की इच्छा करते हुए (साधक जन) ब्रह्मचर्य को धारण कर के रहते हैं उस पद को संक्षेप से मैं तुझे कहूंगा ॥११॥ इन्द्रियों के सब द्वारों को संयम कर के, मन को हृदय में रोक कर और अपनी वृत्ति को मस्तक में रख कर, योग धारण में स्थिर अभ्यासी, 'ओम्' ऐसे एक अक्षर ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ साथ ही मुझ को स्मरण करता हुआ जो देह-त्याग कर जाता है वह परमगति (परमपद को) जाता है ॥१२-१३॥

हे पार्थ ! अनन्य चित्त वाला, जो जन निरन्तर, नित्य मुझ को स्मरण करता है, उस नित्य योगयुक्त योगी को मेरा मिलाप सुलभ है ॥१४॥ मुझ को पा कर, परम गति को पहुँचे हुए महात्मा जन दुःख के घर और सदा न रहने वाले दूसरे जन्म को नहीं पाते ॥१५॥ ब्रह्मलोक तक, सभी लोक फिर आने जाने वाले हैं (वहां तक पुनर्जन्म की परम्परा है), परन्तु हे अर्जुन ! मुझ को प्राप्त हो कर फिर जन्म नहीं होता ॥१६॥

दिन-रात की गणना को जानने वाले सहस्र युग पर्यन्त ब्रह्मा के दिन को और सहस्र युग तक ब्रह्मा की रात्रि को जानते हैं ॥

इतना उत्पत्ति और प्रलय काल है ॥१७॥ ब्रह्मा का दिन आने पर सब द्रव्य अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं। रात्रि के आरम्भ होने पर उसी अव्यक्त अवस्था में सब वस्तुएं लय हो जाती हैं ॥१८॥ हे पार्थ! वही प्रकट, अप्रकट होने वाला, यह प्राणियों का समूह, इस प्रकार दिन के आने पर हो होकर रात्रि के आने पर लय हो जाता है और फिर दिन के आगमन पर विवश प्रकट हो जाता है॥ कर्मबद्ध प्राणी के ऊपर यह जन्म और मरण का चंचल चक्कर सदा चलता ही रहता है ॥१९॥ परन्तु उस अव्यक्त से (अप्रकट सूक्ष्म मूल प्रकृति से) अन्य एक और सनातन अव्यक्त भाव है। वह जो सब नाशयुक्त भूतों में

विद्यमान होते हुए भी नाश नहीं होता ॥२०॥ जो अव्यक्त अविनाशी कहा है उस को परम गति कहा करते हैं। ऐसे जिस पद को पा कर प्राणी (फिर जन्म मरण के चक्कर में) लौट कर नहीं आते, वह मेरा परम धाम है ॥२१॥ हे पार्थ ! जिस परमेश्वर में सब भूत स्थित हैं और जिस से यह सारा ब्रह्माण्ड विस्तृत हुआ है, वह परम पुरुष, अनन्य भक्ति से प्राप्त किया जाता है ॥ उस की प्राप्ति का एक मात्र उपाय अनन्य भक्ति है ॥२२॥

हे श्रेष्ठ ! परन्तु जिस काल में मर कर योगीजन अनावृत्ति को (पुनर्जन्म में न आने को) और आवृत्ति को (फिर जन्म धारण करने

को) पाते हैं वह काल मैं तुझ को कहूंगा ॥२३॥ अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छः मास अनावृत्ति का मार्ग है। उस में मर कर ब्रह्म के जानने वाले जन ब्रह्म को पाते हैं॥ धूआं, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन के छः मास यह पुनरावृत्ति का मार्ग है। उस में मरा हुआ योगी चन्द्रमा की ज्योति को पा कर (पुनर्जन्म में) लौट आता है ॥२४–२५॥ ये शुक्ल और कृष्ण दो मार्ग, जगत् में सदा रहने वाले माने गये हैं। उन में से एक से तो जीव नहीं लौटता और दूसरे से फिर लौट आता है ॥ यहां उत्तरायण से तात्पर्य ज्ञान का है। जो जन कर्मयोग-युक्त ईश्वरोपासक हैं उन को ध्यान, समाधि में

यदि अग्निकुण्ड के दर्शन हों, दिव्य ज्योति दीख पड़े, दिन के उदय होने जैसा प्रकाश दीखने लगे वा सूर्य के दर्शन हो जायें तथा शुक्ल पक्ष के पूर्ण चन्द्र की स्वच्छ ज्योत्स्ना दृष्टिगोचर होती रहे और यह अवस्था छः मास तक बनी रहे तो वे योगी लोग इस उत्तरायण में–उत्तर श्रेष्ठतर अवस्था में–देह छोड़ कर अध्यात्म सूर्य के मार्ग से मोक्ष-धाम को जाते हैं और सर्वथा मुक्त ही रहते हैं। जो अभ्यासी ध्यान में धूआं देखे, अन्धेरी रात और कृष्णपक्ष को काली अवस्था अवलोकन करे, यदि छः मास तक उस की यह दशा होती रहे और वह अन्त में उसी में मर जाय तो वह चन्द्रमा (पृथ्वी) लोक में जाता है। यह

दक्षिण मार्ग है। इस में जन्ममरण का क्रम चलता रहता है। प्रकाश-शून्य लोकों में जाना, सुख-भोग के लोकों को पाना पितृयान मार्ग है। और ज्योति को लाभ कर के जाना, आत्मा परमात्मा के प्रकाश को प्राप्त कर के प्राण त्यागना देवयान मार्ग है ॥२६॥ हे अर्जुन! इन दोनों मार्गों को जानता हुआ, कोई भी योगी (अपनी गति के) अज्ञान में नहीं रहता—उस को अपने मार्ग का ज्ञान हो जाता है। इस लिए हे अर्जुन! तू भी सब काल में योगयुक्त बन जा ॥२७॥ इस भेद को जान कर फिर—वेदों में, यज्ञों में, तपों में और दानों में जो पुराय के फल बताए हैं उन सब को लांघ कर योगी परम आदि स्थान

को प्राप्त होता है ॥ पूर्णज्ञान हो जाने पर योगी पुण्यफल के सभी लोकों को पार कर के सब के आदि स्थान, परमात्मा के परम अमृतपद को प्राप्त कर लेता है ॥२८॥

ओं तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद का अक्षर-ब्रह्म-योग नामक आठवां अध्याय समाप्त हुआ ।

——o——

नवां अध्याय

श्री भगवान् ने कहा—तुझ निन्दा-रहित को, यह फिर, परम

गोपनीय ज्ञान, विज्ञान सहित मैं कहूंगा। जिस को जान कर तू अशुभ (पाप) से मुक्त हो जायगा ॥१॥ यह विद्याओं में राजविद्या (उत्तम विद्या) है, यह उत्तम रहस्य है, यह पवित्र है, श्रेष्ठ है, यह प्रत्यक्ष में अनुभव में आने योग्य है, यह धर्ममय है, यह अविनाशी है और कर्म में लाने में अति सुगम है ॥२॥ हे परंतप! जो जन इस धर्म में श्रद्धा नहीं रखते वे मुझे न पा कर मृत्यु और संसार के मार्ग में ही बार बार फिरते रहते हैं ॥३॥

वह ज्ञान यह है–कि यह सब जगत् मुझ अप्रकट स्वरूप से फैलाया गया है। सब भूत मेरे आश्रित हैं और मैं उन के आश्रय

पर नहीं हूं ॥४॥ मुझ में सब भूत नहीं हैं–ऐसा भी एक प्रकार से कहा जा सकता है। परन्तु तू मेरे योग के ऐश्वर्य को देख। मेरा आत्मा प्राणियों को पालने वाला, भूतों का उत्पन्नकर्ता और भूतों में रहता है ॥५॥ जैसे सर्वत्र जाने वाला महान् वायु आकाश में स्थित है ऐसे ही सब भूत मुझ में रहते हैं, ऐसा तू धारण कर ॥६॥ हे कुन्ती के पुत्र! कल्प के क्षय होने पर सब भूत मेरी ही शक्ति में समा जाते हैं। कल्प के आदि में मैं फिर उन को उत्पन्न करता हूं॥ ऐसे सभी वचनों में विश्वात्मा की भावरूप अभिव्यक्ति का ही प्रकाश है। जैसे यन्त्र विशेष पर दूर देश के शब्द स्फुरित हो जाते हैं इसी प्रकार

परमात्मा के धाम की वाणी भी कभी कभी किसी मुख के यन्त्र से स्फुरित हो जाया करती है। पारब्रह्म से एकता प्राप्त करने पर उस परमात्मा के पद का ही वर्णन होने लग जाया करता है। किसी भी देश में, किसी समय, भगवान् की अभिव्यक्ति का होना बुद्धिगम्य, युक्तियुक्त और अनुभव-गत वार्ता है ॥७॥ अपनी शक्ति के आधार से, अपनी प्रकृति को आश्रित कर के, इस भूतों के सम्पूर्ण समूह को मैं अवश्य बार बार उत्पन्न करता रहता हूं ॥८॥ हे धनञ्जय ! यद्यपि सृष्टिरचना भी कर्मों से की जाती है (तथापि) उन कर्मों में उदासीन की भांति असक्त रहने वाले मुझ को वे कर्म नहीं बांधते ॥ मैं उन

कर्मों को रागद्वेष से रहित हो कर अपने स्वतःसिद्ध स्वभाव से करता हूं, इस लिए निर्लेप बना रहता हूं ॥९॥

हे कुन्तीपुत्र ! मेरे अध्यक्षपन से, जगत् का मूल कारण प्रकृति, जङ्गम स्थावर जगत् को जन्म देती है। इसी हेतु से जगत् का चक्कर घूम रहा है ॥१०॥ प्राणियों के महेश्वर स्वरूप मेरे परमभाव को न जानते हुए मूढ़जन, मनुष्य तन में रहने वाले मुझ को भली प्रकार नहीं जानते ॥११॥ वे व्यर्थ आशा वाले, व्यर्थकर्मी, व्यर्थ ज्ञानवान्, विपरीत चित्त वाले, मोहने वाली राक्षसी और आसुरी प्रकृति (स्वभाव) के आश्रित हैं ॥ आस्तिक-भावरहित, विश्वासहीन जन अंत में असुर

समान ही हो जाते हैं ॥१२॥

परन्तु महात्मा लोग तो, हे पार्थ! अपने दैवी स्वभाव में (आस्तिक्य बुद्धि में) रहते हुए, भूतों के आदि और अविनाशी को जान कर, एक मन से मुझ को भजते हैं ॥१३॥ वे सदा मुझ में मिले हुए, दृढ़-व्रतों वाले, निरन्तर गुणकीर्तन करते हुए, संयम में रहते हुए और नमस्कार करते हुए मुझ को आराधते रहते हैं ॥१४॥ और दूसरे उपासक-जन, परमात्मा एक है, सब से पृथक् है, अनेक प्रकार से विद्यमान है और सब ओर मुख वाला है, ऐसे भावयुक्त, ज्ञानरूप यज्ञ से पूजन करते हुए मुझ को आराधते हैं ॥१५॥

सब प्रकार के शुभ में अपनी प्रेरणा दिखाते हुए महाराज ने कहा—यज्ञ करने का संकल्प मैं हूं। यज्ञ भी मैं हूं। यज्ञ की हवि मैं हूं। यज्ञ की वनस्पति वा यज्ञ-अन्न मैं हूं। मैं मन्त्र हूं, मैं घृत और मैं ही अग्नि हूं। हवन किया गया द्रव्य भी मैं हूं ॥१६॥ इस जगत् का पिता, माता, धारणकर्ता और पितामह मैं हूं। जानने योग्य पवित्र ओंकार, ऋक्, यजु और सामवेद भी मैं ही हूं॥ इन में मेरा ही प्रकाश, मेरी ही प्रेरणा है ॥१७॥ मनुष्यों की गति, प्राणियों का पालक, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, हितैषी मैं हूं। उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, आश्रय और अविनाशी बीज (प्रेरक कारण) मैं हूं ॥१८॥ सूर्य के रूप में, मैं

ही तपता हूं, वर्षा को रोकता और बरसाता मैं हूं। अमृत और मृत्यु, प्रकट और अप्रकट, हे अर्जुन ! मैं ही हूं। सब परिवर्तनों में और विकासों में एक ही विश्वव्यापी नियम काम कर रहा है। सारे कारण कार्य जगत् में भगवान् का आदि प्रेरक संकल्प ही परिणाम मात्र का कारण ही रहा है। इस विशाल ब्रह्माण्डवृक्ष का बीज ईश्वरीय संकल्प है ॥१६॥

तीनों वेदों के ज्ञाता, सोमरस पीने वाले पापरहित जन, यज्ञों से मुझे पूज कर स्वर्ग की गति की प्रार्थना करते हैं। वे याजक पुण्यरूप देवलोक को पा कर स्वर्ग में दिव्य देवभोगों को भोगा करते हैं॥ वे

वहां महान् स्वर्गलोक भोग कर, पुण्य कर्मफल समाप्त हो जाने पर (फिर) मर्त्यलोक में आ जाते हैं। इस प्रकार त्रयी धर्म वाले, फलों की कामना सहित जन जन्ममरण के चक्कर में पड़े रहते हैं ॥२०–२१॥

जो अनन्य भावयुक्त जन, मुझ को चिन्तन करते हुए मुझे आराधते हैं, उन सदा मुझ में रहने वालों (उपासकों) का योगक्षेम मैं चलाता हूं ॥२२॥ हे कुन्तीपुत्र ! जो भी श्रद्धायुक्त भक्त अन्य देवताओं का पूजन करते हैं वे भी अविधि से मुझे ही पूजते हैं ॥२३॥ क्योंकि मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु भी हूं। वे अन्य देवपूजक वास्तव में मुझे नहीं जानते, इस कारण, आदर्श से गिर जाते हैं। वे जन्म-

मरण से पार नहीं पा सकते ॥२४॥ अग्नि आदि देवों के पूजन के व्रतों वाले देवलोक को जाते हैं, पितरों को पूजन करने के व्रती पितृ-लोक को पाते हैं, भूतों के पूजक, भूतलोकों को प्राप्त होते हैं और मुझ को पूजन करने वाले मुझे ही प्राप्त करते हैं ॥२५॥

जो भावनावान् भक्त, भक्ति से मुझे पत्र, पुष्प, फल, जल अर्पण करता है उस प्रयत्नशील के भक्ति से भेंट किये हुए उस पदार्थ को मैं सेवन करता हूं ॥ ईश्वर की भक्ति के भाव से जो कुछ सेवा, उपकार, दान, बलिदान कर्म किया जाता है और जो कुछ हरिभक्तों को दिया जाता है वह सब ईश्वरार्पण है। उसे भगवान् स्वीकार करता है ॥२६॥

ईश्वरार्चन की यह भी विधि है कि हे कुन्तीपुत्र ! जो कार्य तू करता है, जो खाता है, जो तू होम करता है, जो तू दान देता है, जो तू तप तपता है वह सब मुझे अर्पण कर दे ॥ यह धारणा कर कि ईश्वरादेश पालन करता हुआ मैं तदर्थ खान-पान आदि किया करता हूं । इस प्रकार अपने कर्तापन का अभिमान न कर, स्वार्थरहित हो जा, यही उत्तम समर्पण है ॥२७॥ इस प्रकार सब कर्म मुझे समर्पण कर देने से, तू शुभाशुभ कर्मों के फलों से और कर्मों के बन्धनों से मुक्त हो जायगा । इसी समर्पण रूप संन्यास योग से युक्त हो कर, मुक्त होने पर, तू मुझ को ही पाएगा ॥२८॥

मैं सब प्राणियों में समभाव से रहता हूं। मेरे लिए न कोई मनुष्य द्वेष करने योग्य है, न कोई प्रिय है। भेद केवल यह है–जो जन मुझे भक्ति से भजते हैं वे मुझ में हैं और मैं उन में हूं ॥२९॥ यदि कोई बड़ा दुराचारी भी एक भाव से मुझे आराधता है–तो वह साधु (श्रेष्ठ ही) माना जाना चाहिये, क्योंकि वह अच्छे यथार्थ निश्चययुक्त है ॥३०॥ ऐसा निश्चयवान् शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और सदा की शान्ति को पा लेता है। हे कुन्तीपुत्र! तू निश्चयपूर्वक जान ले कि मेरा भक्त कदापि नष्ट नहीं होता, उस का उद्धार अवश्य ही हो जाता है ॥३१॥

हे पार्थ ! जो जन पाप जन्मों वाले भी हों, (चोर, डाकू वा अन्य क्रूर वंश में भी उत्पन्न हुए हों) जो घर-बार के काम में लगी हुई–स्त्रियां भी हों, और जो रात-दिन व्यापार करने में तत्पर–वैश्य भी हों, और मेहनत में लगे हुए–श्रमी भी हों, वे भी, मेरा आश्रय ग्रहण कर के परम गति को लाभ कर लेते हैं ॥ पापमय जन्मों वाले और व्यवहार में तथा काम-काज में तत्पर स्त्रियां, वैश्य और श्रमी भी अनन्य भक्ति से संसार सागर को तर जाते हैं ॥३२॥ तत्र–फिर पुण्य-वान् ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियों का तो कहना ही क्या है (उन को मेरे आराधन का अवकाश बहुत ही अधिक मिलता है, इस लिए वे

शीघ्र अपना कल्याण कर सकते हैं) इस कारण—इस नाशवान्, सुख-रहित लोक को पा कर तू मुझ को आराधित कर ॥३३॥ मुझ में मन को लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर और मुझ को नमस्कार कर। इस प्रकार अपने आत्मा को मुझ में जोड़ कर, मेरे आश्रित हो कर तू मुझे ही पाएगा ॥३४॥

ओ३म् तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्रीकृष्णार्जुन सम्वाद का राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

—o—

दसवां अध्याय

श्री भगवान् ने कहा—हे महाभुज ! फिर भी मेरे परम वचन सुन, जो वचन हित कामना से, तुझ प्रीति करने वाले को मैं कहूंगा ॥१॥ मेरे दिव्य जन्म को देवगण और महर्षि जन भी नहीं जानते हैं, क्योंकि मैं ही सर्व प्रकार से देवों और महर्षियों का आदि स्थान हूं॥ महाराज इस अध्याय में विश्व के आत्मा का स्वरूप वर्णन करते हैं कि वही एक सारे संसार का सूत्र और सार है। अद्भुत वस्तुओं में, तेजामेय पदार्थों में, वैचित्र्य में, लाभदायक द्रव्यों में, गुणों में, ज्ञान

में, बल में, बुद्धि में और नाना चमत्कारिक पदार्थों में उसी की इच्छा विकसित हो रही है। वह सारे विश्व का आत्मा है। विशेष वस्तुओं में उस का विशेष विकास है। सब नियमों में और शक्तियों में उस की अभिव्यक्ति है। उस की विद्यमानता को ऐसे ही चिन्तन करना उचित है ॥२॥

जो मनुष्यों में रहता हुआ ज्ञानी और लोकों के महेश्वर, अजन्मा, अनादि मुझ को जानता है वह सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥३॥

बुद्धि, ज्ञान, अमोह, क्षमा, सत्य, इन्द्रियसंयम, शान्ति, सुख-दुःख,

भाव(होना), अभाव(न होना), भय और ऐसे ही निर्भयता ॥ दया, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश, ये प्राणियों के भिन्न-भिन्न भाव मुझ से ही होते हैं—इन में मेरा ही नियम काम करता है ॥४—५॥ पूर्व काल के सात महर्षि, चार मनु, जिन का यह लोक है और जिन की यह प्रजाएं हैं, वे मेरे ही मानस संकल्प से उत्पन्न हुए थे ॥६॥ इस मेरी विभूति और योग-शक्ति को जो जन यथार्थता से जानता है वह अविचल योग से युक्त हो जाता है—इस में संशय नहीं है ॥७॥ मैं सब का उत्पादक हूं । मुझ से सब हो रहा है—ऐसा मान कर, आस्तिक भाव सहित, ज्ञानी लोग मुझे भजते हैं ॥ मुझ में

चित्त लगाने वाले, मुझ में प्राण अर्पण किये हुए जन, एक दूसरे को समझाते हुए और मेरा ही नित्य कथन करते हुए संतुष्ट रहते हैं और आनन्द मनाते हैं ॥८—९॥ उन निरन्तर योगयुक्त, प्रीति-पूर्वक भजने वालों को मैं वह बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) देता हूं जिस से वे मुझ को प्राप्त हो जाते हैं ॥१०॥ उन पर अनुकम्पा कर के, उन के आत्मा में रहने वाला मैं, उन के अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को, ज्वलन्त ज्ञानदीपक से नष्ट कर देता हूं ॥११॥

अर्जुन ने कहा, हे भगवान् ! आप परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र हैं। आप को पुरुष, सदा रहने वाला, दिव्य आदिदेव, अजन्मा

और समर्थ, सब ऋषि, देवर्षि, नारद, असित, देवल और व्यास कहते हैं और ऐसा ही आप स्वयं भी मुझे कह रहे हैं ॥१२–१३॥ हे केशव! आप जो मुझे कह रहे हैं वह सब मैं सत्य मानता हूं। हे भगवन्! निश्चय से आप के स्वरूप को न देव जानते हैं, न दानव ॥१४॥ हे पुरुषोत्तम! हे प्राणियों के उत्पादक! हे प्राणियों के ईश्वर! हे देवों के देव! हे जगत् के स्वामी! आप स्वयं ही अपने आप से अपने आत्मा को जानते हैं—आप के स्वरूप में मनुष्यों की बुद्धि की गम्यता नहीं ॥१५॥ जिन विभूतियों के द्वारा इन लोकों को व्याप्त कर के आप रह रहे हैं, वह सब अपनी दिव्य विभूतियां आप को कहनी चाहिएं॥

विभूतियों से तात्पर्य ऐश्वर्य से है ॥१६॥

हे योगिन् ! आप को सदा चिन्तन करता हुआ मैं कैसे जानूं ? हे भगवन् ! और, किस किस रूप में, आप मुझ से चिन्तन किये जाने चाहिएं ? ॥१७॥ हे जनार्दन ! अपने योगबल और अपने ऐश्वर्य को फिर विस्तार से मुझे कहो। निश्चय से इस अमृत को सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं होती ॥१८॥

श्री भगवान् ने कहा–हे कुरुश्रेष्ठ ! बहुत अच्छा, मैं अपनी मुख्य मुख्य दिव्य विभूतियां तुझे कहूंगा। उन मेरी विभूतियों के विस्तार का तो अन्त नहीं है ॥१९॥ हे गुडाकेश ! सब प्राणियों के अन्तःकरण

में रहने वाला मैं आत्मा हूं। और भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूं ॥२०॥ सूर्यों में विष्णु मैं हूं। ज्योतियों में, किरण सहित मैं रवि हूं, वायुओं में मरीचि और नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूं ॥२१॥ मैं वेदों में सामवेद हूं और देवों में वासव हूं। मैं इन्द्रियों में मन हूं और प्राणियों में चेतनता हूं ॥२२॥ रुद्रों में शंकर और यक्ष राक्षसों में धनपति कुबेर मैं हूं। मैं वसुओं में अग्नि और पर्वतों में मेरु हूं ॥२३॥ हे पार्थ! पुरोहितों में प्रधान पुरोहित बृहस्पति तू मुझे जान। मैं सेना-पतियों में कार्त्तिक स्वामी और सरोवरों में सागर हूं ॥२४॥

मैं महर्षियों में भृगु और वाणियों में एकाक्षर ओंकार हूं! मैं

यज्ञों में जपयज्ञ और स्थावरों में हिमालय पर्वत हूं ॥२५॥ मैं सब वृक्षों में पीपल और देवर्षियों में नारद हूं । गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूं ॥२६॥ घोड़ों में, अमृत से उत्पन्न उच्चैःश्रवा तू मुझे जान । हाथियों में ऐरावत और मनुष्यों में तू मुझे राजा समझ ॥२७॥ मैं शस्त्रों में वज्र और गौओं में कामधेनु हूं । प्रजा की उत्पत्ति में उत्पादिनी शक्ति और सर्पों में वासुकि मैं हूं ॥२८॥

मैं नागों में शेषनाग हूं और जलचरों में वरुण हूं । मैं पितरों में अर्यमा और वश करने में यम हूं । दैत्यों में प्रह्लाद, गिनने वालों में काल, मृगों में केसरी और पक्षियों में गरुड़ मैं हूं ॥२९–३०॥ पवित्र

करने वाली वस्तुओं में पवन और शस्त्रधारियों में रामचन्द्र मैं हूं। मैं मछलियों में मगरमच्छ और नदियों में गंगा हूं ॥३१॥ हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, मध्य, अन्त मैं ही हूं। मैं विद्याओं में आत्मविद्या, वाद-विवाद करने वालों में वाद हूं ॥३२॥

मैं, अक्षरों में आकार और समासों में द्वन्द्व हूं। अविनाशी काल, सब को धारण करने वाला और अनन्तस्वरूप भी मैं ही हूं ॥३३॥ सब को हरने वाली मृत्यु मैं हूं। होने वाली वस्तुओं का उत्पादक मैं हूं। नारियों में कीर्ति, शोभा, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और क्षमा मैं हूं ॥३४॥ मैं सामों में बृहत्साम और छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूं।

मासों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त मैं हूं ॥३५॥

मैं, छलने वालों में द्यूत हूं–जहां वे अपनी सब चालें चूक जाते हैं, वह हूं। तेजस्वियों में तेज, जय, निश्चय मैं हूं। मैं सात्त्विक भाव वालों में सत्त्वगुण हूं ॥३६॥ वृष्णिकुल में मैं वासुदेव हूं और पाण्डवों में धनञ्जय हूं। मैं मुनियों में व्यास हूं और कवियों में उशना कवि हूं ॥३७॥ मैं दमन करने वालों में दण्ड हूं और जीतना चाहने वालों में नीति हूं। गोपनीय भेदों में मौन और ज्ञानियों में ज्ञान मैं हूँ ॥३८॥

हे अर्जुन! सब भूतों का कारण मात्र मैं हूँ। जो कुछ चराचर

है वह मेरे बिना नहीं है ॥३९॥ हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। परन्तु यह जो मैं ने तुझे विस्तार बताया है वह केवल दृष्टान्त रूप है ॥४०॥

अपने ऐश्वर्य का सार वर्णन करते हुए महाराज ने कहा–जो जो वस्तु अद्भुत वा ऐश्वर्यसहित है, श्रेष्ठ है, शोभायुक्त है और अतिशय शक्तिवान् है वह मेरे तेज–प्रभाव–के अंश से उत्पन्न हुई है, ऐसा तू जान ॥४१॥ अथवा, हे अर्जुन ! इसे बहुत जानने से तुझे क्या प्रयोजन है। इस सारे जगत् को मैं अपने एक अंश से धारण कर के विद्यमान हूं–यह सारा विश्व मेरी शक्ति के एक अंश के आश्रित है

यही समझ ॥ यह निश्चय कर कि सम्पूर्ण विश्व भगवान् के ज्ञान का प्रकाश है, यह अद्भुत चित्र, चतुर चित्रकार की चेतना का परिचायक है ॥४२॥

ओ३म् तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन सम्वाद का विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

——o——

ग्यारहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा—मुझ पर अनुग्रह कर के अध्यात्म नामक परम

गोपनीय जो वचन आप ने मुझे कहे (उन से) यह मेरा मोह दूर हो गया है ॥१॥ भूतों के उत्पत्ति और नाश को आप से मैं ने विस्तार से सुना । हे कमलनयन ! आप का अविनाशी माहात्म्य भी मैं ने सुना ॥२॥ हे परमेश्वर ! जैसा आप अपने आप को कहते हैं वैसे ही हैं । हे पुरुषोत्तम ! मैं आप के ईश्वरीय स्वरूप के दर्शन करना चाहता हूं ॥३॥ हे प्रभु ! यदि वह दर्शन आप मेरे लिए सम्भव मानते हैं तो, हे योगेश्वर ! आप अपने अविनाशी स्वरूप के मुझे दर्शन दें ॥४॥

भगवान् ने कहा, हे पार्थ ! मेरे सैंकड़ों तथा सहस्रों रूपों को तू देख । वे नाना प्रकार के दिव्य हैं, नाना रंग और रूपाकार वाले

हैं ॥५॥ हे भारत ! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दोनों अश्विनों और मरुतों को देख। बहुत से पहले न देखे गए आश्चर्य स्वरूपों को तू देख ॥६॥ हे गुडाकेश ! यहीं मेरी देह में एक रूप में स्थित, सारे, चराचर सहित, जगत् को आज तू देख और अन्य जो कुछ तू देखना चाहता है वह भी देख ॥७॥ पर तू इन अपने चर्म चक्षुओं से मुझ को नहीं देख सकता है (इस लिए) मैं तुझे दिव्य (आत्मबल के) नेत्र देता हूं। उन से मेरे योग के ऐश्वर्य को तू देख ॥ देवदत्त दिव्यदृष्टि, यहां हरि संकल्प से प्राप्त हुई आत्मिकदृष्टि से तात्पर्य है। इस दृष्टि के प्राप्त होने पर, अर्जुन ने विश्व आत्मा के संकल्प से एक ही देश

में ऐसे नाना भावों को, विभूतियों को देखा जैसे आकाश-तरंगों में संचालित नाना देशों और भाषाओं के वचन, वादन और रंग तथा आकार, एक ही यन्त्र विशेष पर, सुने तथा देखे जा सकते हैं ॥८॥

संजय ने कहा, हे राजन् ! ऐसा कह कर उस के पश्चात् महा योगेश्वर श्री हरि ने अर्जुन को अपना परम ईश्वरीय स्वरूप दिखाया॥ भगवान् का तेजोमय विराट स्वरूप, जिस में सारा विश्व विद्यमान है और जो नियमरूप, कालमय रूप है, जिस में सब उत्पत्ति, लय और कार्य-कारण का चक्कर चल रहा है वह महाराज ने दिखाया। जैसे एक ही आकाशरूप मूल पदार्थ के नाना लोक लोकान्तर आदि परिणाम

हैं ऐसे, एक ही विश्वेच्छा से, असंख्य विकास हो रहे हैं। भगवान् का ऐसा स्वरूप बौद्धिक नेत्रों से और दिव्य आत्मिक नयनों से देखा जा सकता है ॥९॥

उस, अनेक मुख और आंखों वाले, देखने में अद्भुत, अनेक दिव्य आभूषणयुक्त, अनेक दिव्यशस्त्र अवलम्बन किए हुए ॥१०॥ दिव्यमाला और वस्त्रसहित, दिव्य सुगन्ध के सुलेप से सुसज्जित, सर्व प्रकार से आश्चर्यमय, सब ओर मुख वाले अनन्तदेव को अर्जुन ने देखा ॥११॥ आकाश में सहस्रों सूर्य, यदि एक समय उदय हों, जैसी उन की एकीभूत ज्योति होवे वैसा उस महात्मा का प्रकाश

था ॥१२॥ वहां देवाधिदेव के शरीर में, अर्जुन ने तब अनेक प्रकार से बटा हुआ सारा जगत् एकरूप में विद्यमान देखा ॥१३॥ तब आश्चर्य-चकित, रोमांचित हुए अर्जुन ने हाथ जोड़ कर और श्री कृष्णदेव को सिर झुका कर कहा ॥१४॥

हे देव ! मैं आप की देह में सब देवों को देख रहा हूं । और भूतों के विशेष संघों को, कमल आसन पर बैठे हुए ईश (ब्रह्मा) को, सब ऋषियों को और दिव्य नागों को मैं देख रहा हूं ॥१५॥ अनेक भुजा, उदर, मुख, नेत्र वाले और सर्व प्रकार से अनन्त स्वरूप आप को मैं देख रहा हूं । हे विश्व के ईश्वर ! हे विश्वरूप ! आप के आदि, मध्य

और अन्त को मैं नहीं देखता हूं ॥१६॥ मुकुटयुक्त, गदाधारी, चक्रधारी, तेज के पुंज, सब ओर से प्रकाशमान, कठिनता से दीखने वाले, सब ओर से दीप्त अग्नि, सूर्य की ज्योति के सदृश और अपरिमित आप को मैं देखता हूं। जैसे स्वप्नावस्था में, अपने भीतर, एक ही भाग में अनेक रूप-रंग, आकार-प्रकार, सरिता-सागर, गिरि-पर्वत, भूमि-क्षेत्र आदि और तारागण आदि सहित आकाश और शब्दादि विषयों की, अन्तः-करण में प्रतिबिम्बित रूप से प्रतीति होती है ऐसे ही समाधि में भी सद्भावों की उपलब्धि अपने ही में हो जाती है। इसी प्रकार की प्रतीति अर्जुन को देवदत्त, दिव्य योग में, भगवान् के स्वरूप में हुई ॥१७॥

आप को, जानने योग्य, परम अक्षर, इस विश्व का परम आधार, अविनाशी, सदा रहने वाले, धर्म का रक्षक और सनातन परम पुरुष मैं मानता हूं ॥१८॥ आदि, मध्य और अन्त रहित, अनन्त शक्तियुक्त, अनन्त भुजा वाले, चन्द्र, सूर्य सदृश नेत्र वाले, अग्नि समान तेजोमय मुखवान्, अपने तेज से इस सारे विश्व को तपाते हुए आप को मैं देख रहा हूं ॥१९॥ आप एक ने ही द्युलोक, पृथिवीलोक, यह अन्तरिक्ष-लोक और सब दिशाएं व्याप्त की हुई हैं। हे महात्मन्! इस आप के अद्भुत, उग्र रूप को देख कर तीनों लोक व्याकुल हो गए हैं ॥२०॥ निश्चय से ये देवों के समूह आप में प्रवेश कर रहे हैं, कितने ही डरे हुए,

हाथ जोड़े हुए स्तुति कर रहे हैं और महर्षियों तथा सिद्धों के समूह, 'स्वस्ति हो' ऐसा कह कर अनेक प्रकार की स्तुतियों से आप की स्तुति कर रहे हैं॥२१॥

रुद्र, आदित्य, वसु और जो साध्य हैं, विश्वदेव, अश्विनीकुमार, मरुत, उष्ण पीने वाले पितर, गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के संघ, ये सभी आश्चर्य-मग्न हो कर आप को देख रहे हैं॥२२॥ हे विशालभुज ! बहुत से मुख, नेत्र, भुजा, जँघा, पैर, उदर और अनेक विकराल दाड़ों वाला आप का विशाल रूप देख कर लोग व्याकुल हो गए हैं और ऐसे ही मैं भी व्याकुल हो गया हूं॥२३॥ आकाश को स्पर्श करते हुए, प्रकाशमान्, अनेक वर्णयुक्त, खुले हुए मुख वाले और जगमगाते

विशाल नेत्रवान् आप को देखकर, हे विष्णु ! मेरा अन्तरात्मा व्याकुल हो गया है और मैं धैर्य और शान्ति को नहीं पाता हूं ॥२४॥

प्रलयकाल की अग्नि के सदृश और विकराल दाढ़ों युक्त आप के मुखों को देख कर भय से मुझे दिशाएं नहीं जान पड़ती हैं और शान्ति नहीं मिलती है। हे देवेश ! हे जगत् के निवास ! प्रसन्न हो जाइए ॥२५॥

सब राजाओं के समूहों सहित ये धृतराष्ट्र के पुत्र, भीष्म, द्रोण और यह कर्ण, हमारे मुख्य योद्धाओं के साथ ही ॥२६॥ विकराल दाढ़ों वाले आप के भयानक मुखों में, वेग से प्रवेश कर रहे हैं।

कितने ही चूर्ण हुए सिरों वाले आप के दांतों के बीच लगे हुए दीख रहे हैं ॥२७॥ जैसे नदियों के बहुत बड़े जल-वेग, समुद्र ही की ओर मुख किए हुए बहते जाते हैं इसी प्रकार ये मनुष्य-लोक के वीर आप के दहकते हुए मुखों में प्रवेश करते जाते हैं ॥२८॥ जैसे पतंग अपने नाश के लिए, बड़े अधिक वेग से, धधकती हुई आग में कूदते हैं ऐसे ही अपने नाश के लिए बड़ी बढ़ी हुई गतिवाले ये लोक भी आप के मुखों में प्रवेश कर रहे हैं ॥२९॥ सब लोकों को, सब ओर से, अपने दहकते हुए मुखों से निगलते हुए, आप चाट रहे हैं। हे विष्णु ! आप के उग्र प्रकाश, सम्पूर्ण जगत् को तेजों से परिपूरित कर के तपा रहे हैं ॥३०॥

मुझे कहिए कि आप उग्ररूप कौन हैं? हे देववर! प्रसन्न हूजिए। आप को नमस्कार हो, मैं आप के आदि स्वरूप को जानना चाहता हूँ क्योंकि मैं आप की इस प्रवृत्ति (क्रिया) को नहीं जानता हूं ॥३१॥

भगवान् ने कहा, लोकों का नाश करने के लिए, अधिक बढ़ा हुआ, मैं काल हूँ—जगत् के नाश का नियम हूँ। लोकों को नष्ट करने के लिए इस काम में लगा हुआ हूँ। प्रत्येक सेना में जो ये योद्धा लोग खड़े हैं, तेरे अतिरिक्त, वे सब नहीं रहेंगे—तेरे बचाने पर भी मर जायेंगे ॥३२॥ इस कारण तू खड़ा हो। यश को प्राप्त कर। शत्रुओं को जीत कर धन-धान्य से भरे हुए राज्य को भोग। ये लोग तो पहले ही

मुझ से–ईश्वरीय नियम से—हनन हो चुके हैं। हे सव्यसाची ! अब तू केवल निमित्त मात्र ही हो जा ॥३३॥ द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य भी योद्धा वीर मैं ने हनन कर रक्खे हैं (उन का जीवनकाल समाप्त हो चुका है) उन का तू हनन कर, व्याकुल न हो, संग्राम में तू शत्रुओं को जीतने वाला है, इस कारण युद्ध कर ॥ भगवान् के काल स्वरूप का यह वर्णन बड़ा अद्भुत और उत्तम है ॥३४॥

संजय ने कहा, केशव के इस वचन को सुन कर हाथ जोड़े, कांपता हुआ, भयभीत अर्जुन बार-बार नमस्कार कर के श्री कृष्ण को गद्गद-कण्ठ, इस प्रकार बोला ॥३५॥ हे हृषीकेश ! यह ठीक है कि आप की

कीर्ति से जगत् प्रसन्न होता है और अनुराग करता है। भयभीत राक्षस लोग दसों दिशाओं को भागते जाते हैं और सिद्धों के सब समूह तुझे नमस्कार करते हैं ॥३६॥ सब से बड़े, ब्रह्मा के भी आदि कर्ता आप को, हे महात्मन् ! कैसे न जन नमस्कार करें। हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगत् के निवास ! आप प्रकट हैं, अप्रकट हैं और इस से भी जो ऊपर है वह हैं ॥३७॥ आप आदि देव हैं, पुरातन पुरुष हैं। आप इस विश्व का परम आधार हैं। आप सब को जानने वाले हैं और जानने योग्य भी आप ही हैं तथा आप परम धाम हैं। हे अनन्तरूप ! यह विश्व आप से ही विस्तृत हुआ है ॥३८॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति और प्रपितामह आप हैं। आप को सहस्रों बार नमस्कार हो और भी अधिक बार नमस्कार हो ॥३९॥ हे सर्वस्वरूप! आगे से, पीछे से और सब ओर से आप को नमस्कार हो। आप अनन्तबल और अपरिमित शक्ति हैं, सब में विद्यमान हैं इस लिए आप ही सर्वस्वरूप हैं ॥४०॥

आप की इस महिमा को न जानते हुए, मैं ने प्रमादवश अथवा प्रेम से, सखा मान कर, आग्रह पूर्वक जो कहा—हे कृष्ण, हे यादव, हे मित्र ॥४१॥ और जो कुछ हंसने के, खेलने के समय, घूमने में, सोते समय, भोजन काल में, अकेले अथवा जनसमुदाय के सामने

मैं ने आप की अवज्ञा की है (तेरा अपमान किया है), वह आप अपार पुरुष से मैं क्षमा करवाता हूं ॥४२॥

आप जंगम-स्थावर जगत् के पिता हैं, इस के पूज्य हैं और सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं, आप के समान ही कोई नहीं है तो अधिक कोई कैसे हो सकता है। तीनों लोकों में अतुल्य प्रभाव वाले हैं ॥४३॥ इस लिए साष्टांग नमस्कार कर के स्तुति-योग्य आप ईश्वर को मैं प्रसन्न करता हूं। हे देव ! जिस प्रकार पिता पुत्र के, मित्र मित्र के और प्रेमी प्रेम-पात्र के अपराध को सहन करता है इस प्रकार आप को मेरे अपराध सहन करने चाहिएं ॥४४॥

पहले न देखे हुए आप के रूप को देख कर मेरा हृदय प्रसन्न हो गया है। परन्तु फिर भी भय से मेरा मन व्याकुल हो रहा है। हे देव ! वही अपना पहला रूप मुझे दिखाइये। हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न हूजिए ॥४५॥ मुकुटसहित, गदा चक्र हाथ में धारण किये हुए उसी प्रकार के आप के पहले रूप को मैं देखना चाहता हूं। हे सहस्रभुज ! हे विश्वमूर्ति ! उसी पहले चतुर्भुज रूप से प्रकट हो जाइए ॥ (चार अंगों में दो उरु भी परिगणित हैं) ॥४६॥

श्री भगवान् ने कहा, हे अर्जुन ! मैं ने प्रसन्न हो कर, आत्म-बल से यह अपना तेजोमय, सर्वरूप, अनन्त, आदि और परम स्वरूप तुझे

दिखाया है। वह मेरा रूप, तुझ से अतिरिक्त, दूसरे ने पहले नहीं देखा ॥४७॥ हे कुरुओं में उत्तम वीर ! तेरे से भिन्न किसी अन्य से, न वेदाध्ययन से, न यज्ञ से, न शास्त्र-पाठ से, न दानों से, न क्रियाओं से और न घोर तपों से मैं ऐसे रूप वाला, मनुष्य लोक में, देखा जा सकता हूं ॥४८॥ इस प्रकार के मेरे इस घोर रूप को देख कर तू घबरा मत और मोह में न पड़। भय रहित, प्रसन्न मन हो और फिर मेरा वही रूप, यह तू देख ॥४९॥

संजय ने कहा, वासुदेव ने, ऐसा कह कर अर्जुन को फिर अपना रूप दिखाया। और फिर उस शान्त मूर्ति महात्मा ने, डरे हुए उस

अर्जुन को आश्वासन दिया, धैर्य बंधाई ॥५०॥

अर्जुन बोला, हे जनार्दन ! आप का यह शान्त मानुषी रूप देख कर अब मैं स्वस्थ हो गया हूं, चैतन्य हो गया हूं और ठीक सावधान हो गया हूं ॥५१॥ भगवान् ने कहा, मेरा जो रूप तू ने देखा है उस के दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं, देव भी इस रूप के दर्शनों की सदा अभिलाषा करते रहते हैं ॥५२॥ जिस प्रकार तू ने मुझे देखा है उस प्रकार, मैं, वेदों से, तप से, दान से तथा यज्ञ से नहीं देखा जा सकता ॥५३॥

परन्तु हे परंतप ! इस प्रकार के मेरे रूप को जानने के लिए,

देखने के लिए और उस में वास्तविकता से प्रवेश करने के लिए अनन्य भक्ति ही (साधन) हो सकती है, मैं अनन्य भक्ति से ही जाना जा सकता हूं ॥५४॥ हे पाण्डव ! जो जन मेरे कर्म करने वाला (अपने सब कर्म मुझे समर्पण किये हुए) है, मुझ में परायण है, मेरा भक्त है, आसक्ति रहित है और सब प्राणियों में निर्वैर है वह मुझ को ही प्राप्त है ॥५५॥

ओ३म् तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन सम्वाद का विश्वरूप-दिव्य-योग नामक ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

—o—
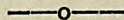
बारहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा, इस प्रकार जो भक्त निरन्तर योगयुक्त हो कर आप को आराधते हैं और जो आप के अविनाशी, अव्यक्त, स्वरूप की उपासना करते हैं उन में से योग के उत्तम ज्ञाता कौन हैं ? ॥१॥

भगवान् ने कहा, जो मुझ में मन को लगा कर, निरन्तर युक्त हुए, मुझ को आराधते हैं और परम श्रद्धा सहित हैं वे मुझ में अत्यन्त मिले हुए माने गये हैं ॥२॥ परन्तु जो सर्वत्र समबुद्धि जन अविनाशी, अवर्णनीय, अव्यक्त, सर्वत्र विद्यमान, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और

ध्रुव स्वरूप को ॥३॥ इन्द्रियों के समूह को संयम में कर के आराधते हैं, वे भी सब भूतों के हित में तत्पर जन मुझ को ही प्राप्त होते हैं ॥४॥ उन अव्यक्त में चित्त लगाने वाले उपासकों को अधिक क्लेश होता है--क्योंकि उस की धारणा करना कठिन काम है। निश्चय से अव्यक्त गति (धारणा) को देहधारी दुःख से ही प्राप्त कर सकते हैं ॥५॥

परन्तु जो जन सब कर्म मुझ में समर्पण कर के, मुझ में परायण हो कर, अनन्य भक्तियोग से ही ध्यान करते हुए मुझ को आराधते हैं ॥६॥ उन, मुझ में चित्त लगाये हुए जनों का, मृत्यु के संसार सागर से, हे पार्थ ! मैं तुरन्त उद्धार कर देता हूं ॥७॥ इस कारण–तू मुझ में

ही मन को लगा, मुझ में बुद्धि को स्थापित कर। इस अनन्य भक्ति के प्राप्त करने के अनन्तर, निस्सन्देह, तू मुझ में निवास करेगा ॥८॥

यदि तू मुझ में चित्त को स्थिरता से नहीं लगा सकता है तो हे धनंजय ! अभ्यास योग से मुझे पाने की इच्छा कर ॥९॥ यदि अभ्यास में भी तू असमर्थ है तो मेरे लिए कर्म करता हुआ (सर्व कर्म मुझे समर्पण कर के कर्तव्य कर्म करता हुआ) तू सिद्धि को पा जायगा ॥१०॥

और जो मेरे निमित्त कर्म करने में भी तू अशक्त है, तो आत्मा को संयम में ला कर सब कर्मों के फल का त्याग कर दे ॥११॥ निश्चय से, अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान (क्रियात्मक

आराधन) अच्छा है, ध्यान से कर्मों के फल का त्याग (सर्व कर्म ईश्वरार्पण करना) अच्छा है, त्याग के पश्चात् तुरन्त ही शान्ति मिल जाती है ॥१२॥

जो जन सब प्राणियों के प्रति द्वेष-रहित है, सब का मित्र है, दयावान् है, ममतारहित है, अहंकार वर्जित है, सुख-दुःख में सम है, क्षमावान् है ॥१३॥ सदा सन्तुष्ट है, योगयुक्त है, आत्मसंयमी है, भगवान् में दृढ़ निश्चय वाला है और मुझ में मन तथा बुद्धि अर्पण किये हुए है, ऐसा मेरा भक्त, मुझे प्यारा है ॥१४॥

जिस से लोग भय नहीं करते और जो लोगों से नहीं डरता

और जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग (चिन्ताजन्य व्याकुलता) से रहित है वह भक्त मुझे प्रिय है ॥१५॥ जो भगवान् के भरोसे के अतिरिक्त किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता, पवित्र है, चतुर है, सब अशुभ कर्मों से उदासीन है, चिन्ता आदि मानस रोग रहित है, सब अशुभ कर्म करना जिस ने त्याग दिया है और भक्तियुक्त है वह मुझे प्यारा है ॥१६॥

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न चिन्ता करता है, न अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा करता है और जो शुभ-अशुभ कर्म-फल का त्यागी है वह भक्ति-भाव वाला भक्त मुझे प्रिय है ॥१७॥ जो

शत्रु और मित्र में समदृष्टि है, ऐसे ही मान-अपमान में सम है, शीत-उष्ण, सुख-दुःख में सम है, फल की इच्छा रहित है ॥१८॥ जो निन्दा तथा स्तुति में बराबर रहता है, जो मौनयुक्त है, चाहे जो हो वा मिले उस से ही सन्तुष्ट है, स्थान की ममता रहित और स्थिरबुद्धि है, वह भक्तिमान् भक्त मुझे प्यारा है। ऊपर श्लोकों में ईश्वरभक्ति के जो लक्षण वर्णन किये गये हैं वे बहुत ही उत्तम हैं। श्रेष्ठ भक्त का जीवन ईश्वरीय प्रेम में कैसा रंगा हुआ और सम, शान्त होना उचित है, यह उन में बड़े सौंदर्य के साथ वर्णन किया गया है ॥१६॥

जो जन इस भक्ति धर्ममय अमृत का, जैसा कहा, उस प्रकार

सेवन करते हैं और मुझ में परायण, परम श्रद्धा करने वाले हैं वे भक्त मुझे परम प्यारे हैं ॥२०॥

ओ३म् तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन-सम्वाद का भक्तियोग नामक बारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

—o—

तेरहवां अध्याय

भगवान् ने कहा, हे कौन्तेय ! यह मनुष्य-देह एक क्षेत्र—आत्मा का निवास स्थान—कहा जाता है। इस क्षेत्र को जो जानता है, उस

साक्षी को, तत्त्वदर्शी, क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥१॥ हे भारत ! सब शरीरों में विद्यमान मुझ को भी तू क्षेत्रज्ञ जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है (देह और आत्मा की भिन्नता का जो ज्ञान है) मेरे मत में वही ज्ञान है॥२॥

वह क्षेत्र जो है, जैसा है, जिस विकारवाला है, जिस से है और वह क्षेत्रज्ञ जो है तथा जिस प्रभाव वाला है, वह संक्षेप से तू मुझ से श्रवण कर ॥३॥ बहुधा ऋषियों ने, पृथक्-पृथक् नानाविध छन्दों द्वारा निश्चित उदाहरण और युक्ति-युक्त, ब्रह्मसूचक पदों द्वारा इस को गाया है ॥४॥ महाभूत, अहंकार, बुद्धि और इसी प्रकार कारण शरीर, मन सहित दस इन्द्रियां और इन्द्रियों के पांच विषय ॥५॥ इच्छा,

द्वेष, सुख, दुःख, सब का संघात देह, परस्पराकर्षण, चेतनशक्ति और धैर्य, यह विकारों सहित क्षेत्र संक्षेप से कहा गया है। ऊपर कहे जिन पदार्थों को और गुणों को क्षेत्र कहा है वे आत्मा के साथ सजीव हैं, चित्तवृत्तियों के आधार हैं और शरीर में उन्हीं द्वारा आत्मा की शक्तियों का प्रकाश होता है ॥६॥

क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को वर्णन करते हुए महाराज ने कहा, अमानपन, अदम्भता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुजनों की सेवा, पवित्रता, स्थिरता, अपने आप का वशीकार ॥७॥ इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य और इसी प्रकार अहंकार रहितपन और जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा,

व्याधि, दुःख और दोषों को देखना, इन के होने को अवश्यम्भावी जानना ॥८॥ कर्मों के फलों में न फंसना, पुत्र, स्त्री और गृह आदिकों में मोह का न होना । इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति पर सदा समचित्तपन ॥९॥ और मुझ में अनन्य भाव से अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जन समूह से उपरामपन ॥१०॥ आत्मज्ञान में स्थिरपन और वस्तुओं के वास्तव ज्ञान के आशय को समझना, ऐसा यह ज्ञान कहा है । जो इस से विपरीत है वह अज्ञान है, इन्हीं भावों का उलट अज्ञान कहा जाता है ॥११॥

जो जानने योग्य है, जिसे जान कर जन मोक्ष को प्राप्त करते

हैं वह अब मैं कथन करूंगा। वह अनादि परमब्रह्म है। वह सत् असत् नहीं कहा जा सकता, वह अपेक्षारहित है ॥१२॥ वह सब ओर से हाथ पैर वाला है, सब ओर से आंख, सिर, मुख रूप है, सब ओर से कर्णवान् है और लोक में वह सब कुछ को व्याप्त कर के विद्यमान है–सर्वशक्तिमान्, निरपेक्ष, समर्थ और सर्वज्ञ है ॥१३॥ उस में सब इन्द्रियों के गुणों का आभास, प्रकाश व शक्ति है, परन्तु वह सब इन्द्रियों से रहित है, अलिप्त है, सब का पालन कर्ता है, प्रकृति के गुणों का भोगने वाला (पालक) नियन्ता है ॥१४॥ सब भूतों के भीतर बाहर, वह विद्यमान है, गतिमान् है और स्वरूप में स्थिर भी है।

सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है, जाना नहीं जाता। वह अज्ञानियों से दूर है और (आत्मदर्शियों के परम) समीप है ॥१५॥ वह सब भूतों में एक आत्मसत्ता से रहता हुआ भी बटे हुए की भाँति स्थिर है। भूतों का पालक है, वह जानने योग्य है, संहारक और उत्पादक है ॥१६॥ वह ज्योतियों की ज्योति है, अन्धकार से ऊपर, ज्ञान है, वह ज्ञेय है वही ज्ञान से प्राप्त होने योग्य है और वह मनुष्य मात्र के हृदय में विराजमान है ॥१७॥

महाराज ने कहा, इस प्रकार मैं ने संक्षेप से क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय बतलाया। मेरा भक्त इस को जान कर मेरे भाव को (मेरे स्वरूप को)

प्राप्त होता है ॥१८॥

इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष दोनों को तू अनादि जान। प्रकृति के कार्यों और गुणों को प्रकृति ही से उत्पन्न हुए तू समझ ॥१९॥ कार्यकारण के कर्तापन में प्रकृति उपादान कारण कही जाती है। और सुखों दुखों के भोक्तापन में पुरुष आत्मा ही कारण कहा जाता है ॥२०॥ प्रकृति में रहता हुआ पुरुष ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को भोगता है, प्रकृति के सत्त्वादि गुण-संयोग ही इस के शुभाशुभ योनियों और जन्मों में जाने का कारण हैं ॥ जीव प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमोगुण रूपी माया में फंस कर, अपने कर्मों के

अनुसार, जन्म-जन्मान्तरों में जाता है ॥२१॥

इस देह में परम पुरुष परमात्मा भी कहा गया है। वह सब का साक्षी है, शुभ का अनुमोदक है, पालक है, भक्ति भाव की भेंट को स्वीकार करने वाला है और महेश्वर है ॥२२॥ जो जन इस प्रकार पुरुष को और गुणों सहित प्रकृति को जानता है वह प्रत्येक अवस्था में रहता हुआ भी फिर जन्म धारण नहीं करता ॥२३॥

कई एक अभ्यासी ध्यान से (एकाग्र चिन्तन से) पुरुष और परम पुरुष के दर्शन करते हैं, कई एक अपने आत्मा से आत्मा को देखते हैं। दूसरे सांख्य योग से और अन्य कर्मयोग से आत्मा को जानते

हैं ॥२४॥ दूसरे कई तो इस प्रकार स्वयं न जानते हुए, दूसरों से सुन कर ईश्वर की उपासना करते रहते हैं, (श्रद्धापूर्वक आत्मवर्णन) सुनने में तत्पर, वे जन भी, मृत्यु को सर्वथा तर ही जाते हैं ॥२५॥

हे भरतर्षभ ! जितना कुछ भी, चराचर जीवों का समूह उत्पन्न होता है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न होता है, यह तू जान ॥२६॥ सब नाशवान् प्राणियों में न नाश होते हुए, सम (एकरस) रहने वाले परमेश्वर को जो मनुष्य जानता है वही उस को जानता है ॥२७॥ ईश्वर को सर्वज्ञ, एकरस भाव से स्थित जानता हुआ मनुष्य अपने आत्मा को हनन नहीं करता ॥ वह अविश्वासी

तथा नास्तिक कदापि नहीं बनता और इस निश्चय से परम गति को प्राप्त कर लेता है ॥२८॥

जो ज्ञानी ऐसा समझता है कि सर्व प्रकार, कर्म प्रकृति से ही किये जा रहे हैं (सृष्टि में क्रिया स्वाभाविकी है) वह आत्मा को अकर्ता जानता है ॥२९॥ जब प्राणियों के पृथक् अस्तित्व को भी एक परमेश्वर में ही स्थित जानता है और उसी से हुए विश्व के विस्तार को देखता है तो तब वह ब्रह्म को प्राप्त करता है ॥३०॥

हे कौन्तेय ! यह ऊपर वर्णन किया गया परमात्मा अनादि और प्रकृति के गुणों से रहित होने के कारण अविनाशी है। वह

शरीर में (देहरूप क्षेत्र में साक्षीरूप से) रहता हुआ भी न कर्म करता है और न कर्म संस्कार से लिप्त होता है ॥३१॥ जैसे सूक्ष्म होने से सर्वव्यापी आकाश को कोई लेप नहीं लगता (किसी वस्तु का संस्कार नहीं छूता) इसी प्रकार सर्वत्र देहमात्र में रहता हुआ परमात्मा प्राणियों के कर्मों से लिपायमान नहीं होता ॥३२॥ जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है इसी प्रकार, हे भारत ! सब देहों को एक ही क्षेत्री (साक्षी परमेश्वर) जीवन-ज्योति दान करता है ॥३३॥ जो जन इस प्रकार ज्ञान की आँखों से, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को और जीवों के प्रकृति से मोक्ष को जानते हैं वे परम ब्रह्मपद

को पाते हैं ॥३४॥

ओ३म् तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन सम्वाद का क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

——o——

चौदहवां अध्याय

श्री भगवान् ने कहा, फिर तुझे, ज्ञानों में उत्तम ज्ञान मैं कहूंगा जिस को जान कर सब मुनि जन इस संसार से मुक्त हो कर परम सिद्धि को पा गये हैं ॥१॥ इस ज्ञान का आश्रय ले कर मेरे समान हो गए

हुए मुनिजन, सृष्टि के उत्पत्तिकाल में भी, नहीं जन्म लेते और प्रलय-काल में भी नहीं कष्ट (क्लेश) भोगते ॥२॥

हे भारत ! मेरा स्थान महद् ब्रह्म है– अनन्त शान्त धाम है। उस में मैं गर्भ (संकल्प बीज) धारण करता हूं–उस में सृष्टि के होने का मैं संकल्प स्फुरित करता हूं–उस से सारे प्राणियों का प्रादुर्भाव होता है ॥३॥ हे कुन्तीपुत्र ! सब कारणों से जो मूर्तियां (कार्य व व्यक्तियां) उत्पन्न होती हैं उन का स्थान तो परमब्रह्म है, मैं कार्य-कारण भाव का बीज बोने वाला पिता हूं ॥४॥

हे विशालभुज ! सत्त्व, रजस और तमस् ये तीन गुण प्रकृति

से उत्पन्न हुए हैं। वे अविनाशी देहधारी जीव को देह में बान्धते हैं। आवरण करना, जड़ता, कठोरता आदि तमोगुण हैं, क्रिया की अत्यन्तता, गति का तीव्रतर वेग, संयोग-विभाग और विकासादि की परम्परा रजोगुण हैं तथा अपने प्रकृति रूप में स्थित सौंदर्य और प्रकाश आदि सत्त्वगुण हैं। ये प्रकृति के गुण, देह के संयोग से और कर्मों के संस्कारों से जीव को जन्म में बांधने वाले हैं ॥५॥

प्रकृति के गुण मनुष्य में कैसे व्यक्त होते हैं इस विषय में महाराज ने कहा—हे निष्पाप ! निर्मल होने से सत्त्वगुण (प्रकृति का विमल उच्च अंश) प्रकाशक है और रोगरहित है, इस से वह सुख और ज्ञान

के संग से मनुष्य को बांधता है—सात्त्विकी क्रिया सुख की और ज्ञान की होती है ॥६॥ रजोगुण को राग-रूप और तृष्णा तथा कामना से उत्पन्न होने वाला तू जान। हे कौन्तेय ! वह कर्मों के संग से (अत्यन्त क्रिया के लोभ से) देही को बांधता है ॥७॥ सब देहधारियों को मोहने वाले तमोगुण को तो तू अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझ। हे भारत ! मनुष्य को वह प्रमाद, आलस्य और नींद से बांध डालता है ॥८॥

सत्त्वगुण मनुष्य को सुख का संग कराता है, रजोगुण कर्मों में जोड़ता है और तमोगुण तो ज्ञान को आवरण कर के प्रमाद में लगाता है ॥९॥ रजोगुण को और तमोगुण को दबा कर, हे भारत ! सत्त्वगुण

प्रकट होता है। ऐसे ही सत्त्वगुण और तमोगुण को मन्द कर के रजोगुण, और रजोगुण तथा सत्त्वगुण को दबा कर तमोगुण प्रकट हुआ करता है॥ प्रकृति के संयोग से आत्मा में जो प्रकृति के विकारों में 'अहंभाव' हो जाता है, प्रकृति के स्वभावों को जो वह अपने मानने लग जाता है और देह आदिकों में जो आत्म-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है इसी से प्रकृति के गुण आत्मा में प्रकट हो जाया करते हैं। यही सगुण अवस्था कही जाती है। प्रकृति में गाढ़तर और गाढ़तम आत्म-भावना तमोगुण है, गाढ़ आत्मभावना रजोगुण है और प्रकृति से भिन्न आत्मभावना सत्त्वगुण है ॥१०॥

जब इस देह में, सब इन्द्रियों के द्वारों में प्रकाश, स्वच्छता, चेतनता उपज आती है और ज्ञान बढ़ जाता है तब जान जाय कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है ॥११॥ हे श्रेष्ठ ! रजोगुण के बढ़ जाने पर लोभ, अधिक कर्म करने की प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और लालसा ये सब उत्पन्न हो आते हैं ॥१२॥ हे कुरुनन्दन ! तमोगुण बढ़ने पर अज्ञान, अकर्मण्यता, प्रमाद और इसी प्रकार मोह ये सब उत्पन्न हो जाते हैं ॥१३॥

जब सत्त्वगुण के बढ़े हुए होने पर देहधारी मर जाता है तब वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोकों को पाता है–ऊंचे जन्मों में जाता

है ॥१४॥ रजोगुण की वृद्धि की अवस्था में मर कर मनुष्य, कर्म करने वाले जन्मों को प्राप्त करता है और तमोगुण की वृद्धि में मरा हुआ मनुष्य अज्ञानमय जन्मों में जाता है ॥१५॥

पुण्यकर्म का फल सात्त्विक और निर्मल कहते हैं, रजोगुण का फल दुःख बताते हैं और तमोगुण का फल अज्ञान कहा करते हैं ॥१६॥ सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से लोभ, तमोगुण से प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं और इसी प्रकार अज्ञान भी उत्पन्न होता है ॥१७॥ सत्त्वगुणी मनुष्य ऊपर जाते हैं—उन्नत होते रहते हैं। रजोगुण वाले मध्य में रहते हैं। तमोगुण की वृत्ति में स्थित मनुष्य

अधोगति को जाया करते हैं॥ ज्ञान, विवेक, विचार, सुबुद्धि, सावधानी, सत्कर्म, कर्तव्य पालन, सेवा, परहित साधन, पुरुषार्थ, सत्संग, स्वाध्याय, उपासना, समता, सन्तोष आदि सात्त्विक भाव हैं। अत्यन्त क्रियाशीलता, अशान्ति, अतिलोभ, तृष्णा, प्रबल कामना, स्वार्थपरता आदि राजस भाव हैं। क्रोध, वैर, निन्दा, क्रूरता, आलस्य, प्रमाद, निरुद्यमता और अज्ञान आदि तामस भाव हैं। सत्त्वगुण की क्रिया में आत्म-हित, नीति-न्याय, दान बलिदान, वीरता धीरता आदि गुण अधिक होते हैं परन्तु रागद्वेष से रहित कर्तव्य, बुद्धि से हुआ करते हैं। रजोगुण की क्रिया में मर्यादा को लोप कर के भी लोभ और कामना

आदि बढ़ जाते हैं। रजोगुण की वृद्धि में क्रिया की सीमा और लालसा की तृप्ति नहीं होती ॥१८॥

जब साक्षी (आत्मा) गुणों से अतिरिक्त दूसरे को कर्मों का कर्ता नहीं जानता और गुणों से ऊपर (जो परमेश्वर व आत्मा है) उस को जानता है तब वह मेरे भाव (स्वरूप) को प्राप्त कर लेता है ॥१९॥ देह से उत्पन्न हुए इन तीन गुणों को लांघ कर (इन से ऊपर उठ कर) देहधारी जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और दुःख से मुक्त हो कर मोक्ष के आनन्द को भोगता है ॥२०॥

अर्जुन ने पूछा, हे प्रभु ! जो जन इन तीनों गुणों को पार कर

जाता है उस के क्या लक्षण हैं ? वह किस आचरण वाला होता है और कैसे इन तीनों गुणों को लांघ कर रहता है ? ॥२१॥

श्री भगवान् ने उत्तर दिया, हे पाण्डुपुत्र ! जो ज्ञानवान् जन प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह के (सत्त्व, रजस् और तमस् के) प्रवृत्त होने पर द्वेष नहीं करता और इन के निवृत्त होने पर इन की इच्छा नहीं रखता ॥२२॥ तटस्थ की भांति साक्षी बना रहता है, गुणों से चलायमान नहीं होता, गुण ही काम कर रहे हैं ऐसा जान कर जो स्थिर रहता है और अपने स्वभाव से नहीं डोलता ॥२३॥ जो सुख-दुःख में सम है, अपने आप में स्थिर है, मिट्टी के ढेले, पत्थर और सुवर्ण

में समबुद्धि है, प्यारी और अप्यारी वस्तु के प्राप्त होने पर समान रहता है और जो अपनी निन्दा तथा स्तुति को तुल्य मानता है ॥२४॥ जो मान तथा अपमान में तुल्य है (एकरस है), मित्र और शत्रु पक्ष में भी न्याय-युक्त, समबुद्धि है और सब प्रवृत्तियों का–सब कार्यों के आरम्भों का–त्यागी है वह गुणातीत कहा जाता है ॥ गुणातीत से तात्पर्य जीवनमुक्त, आत्मा में रहने वाला, समबुद्धि से स्वभाव में काम करने वाला और ईश्वरीय कर्म में वर्तता हुआ, पूर्ण ज्ञानवान् मनुष्य है। संसार में स्वाभाविकी क्रिया का प्रवाह, नदी के जल-प्रवाह की भांति निरन्तर बड़े वेग से बह रहा है। समभाव में रह कर रक्षण,

पालन, परहित और सेवादि कर्मों को करते जाना, उस ईश्वरीय नियम के साथ सहयोग करना है और ऐसी अवस्थायुक्त मनुष्य गुणातीत ही होता है ॥२५॥

जो उपासक अनन्यभाव-युक्त भक्तियोग से मेरी सेवा करता है, मुझे आराधता है, वह इन गुणों को पार कर के ब्रह्मरूप हो जाने के योग्य हो जाता है ॥२६॥ निश्चय से ब्रह्म की स्थिति मैं हूं। अविनाशी-पद मोक्ष की प्रतिष्ठा मैं ही हूं, सनातन धर्म और परम सुख का स्थान भी मैं ही हूं ॥२७॥

ओ३म् तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन-सम्वाद का गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवां अध्याय समाप्त हुआ।

पन्द्रहवां अध्याय

श्री भगवान् ने कहा—जिस का मूल ऊपर है, जिस की शाखाएं नीचे को हैं और जिस के पत्ते वेद हैं ऐसे अविनाशी अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन पण्डित लोग करते हैं। जो जन इस वृक्ष को जानता है वह वेदों का ज्ञाता है॥ 'श्वः' का अर्थ है आने वाला दिन—कल, जो कल तक ठहरे वह है श्वत्थ। कल तक भी न रहे, क्षण क्षण में बड़े वेग से बदलता चला जाय वह है अश्वत्थ। ऐसा ही यह संसार वृक्ष है। यह प्रतिक्षण सरकता चला जाता है। इस का सूक्ष्म कारणरूप

मूल ऊपर परमेश्वर में है। यह कार्यरूप में और विकास के क्रम में स्थूल से स्थूल शाखारूप नीचे को फैला हुआ है। वेद के वचन इस के पत्र हैं—इस के परिचायक हैं। यह विश्ववृक्ष कारणरूप से अविनाशी है ॥१॥ गुणों से बढ़ी हुई, पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों की कोंपलों वाली इस की टहनियां, नीचे ऊपर फैल रही हैं। और कर्मों में बांधने वाली इस की जड़ें नीचे मनुष्य लोक में विस्तृत हो रही हैं ॥२॥ इस लोक में इस का वास्तविक रूप नहीं दीखता–केवल कार्य, विकार ही दीख रहा है। इस का आदि और अन्त भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इस की स्थिति भी नहीं दीख पड़ती,–यह जो कुछ दीखता है वह

असीम है, विकार है और क्षणिक है। ऐसे इस गहराई तक गड़ी हुई जड़ों वाले अश्वत्थ वृक्ष को असंग (निष्काम कर्मयोग) के दृढ़ शस्त्र से काट कर ॥३॥ तत्पश्चात् जिस में गए हुए जीव फिर लौट कर जन्म-बन्धन में नहीं आते उस परम पद की इस प्रकार कामना व प्रार्थना करनी चाहिए, जिस से पुरातन प्रवृत्ति–सृष्टि रचना–हुई है, उसी आदि सनातन पुरुष को मैं प्राप्त होता हूं, उसी परम पुरुष की शरण मैं लेता हूं ॥४॥

जो जन मान, मोह रहित हैं, आसक्ति और पापों को जीते हुए हैं, सदा आत्मा में स्थिर हैं, शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वों से और

सुख-दुःख की वेदना के ज्ञान से मुक्त हैं और कामना से निवृत्त हैं वे ज्ञानी लोग उस अविनाशी पद को जाते हैं ॥५॥ वहां सूर्य प्रकाश नहीं करता, न चन्द्र और न अग्नि वहां प्रकाश करते हैं। जो पद स्वयं ज्योतिर्मान् है। जिस में जा कर जीव वहां से फिर पीछे नहीं आते, वह मेरा परम धाम है ॥६॥

मेरा ही जीवरूप सनातन अंश (अंश की भांति अंश) जीवलोक में, प्रकृति में रहने वाली मनसहित पांच ज्ञानेन्द्रियों को आकर्षण करता है—इन से काम लेता है ॥७॥ वह अपनी देह में समर्थ—ईश्वर—जिस शरीर को धारण करता और जिस से निकल कर जाता है उस में

और उस से इन मनसहित पांचों इन्द्रियों को अपने साथ ऐसे ले कर जाता है जैसे गन्ध के स्थानों से वायु गन्धों को अपने साथ ले जाया करती है ॥८॥ कान, आंख, स्पर्श, रसना, घ्राण इन्द्रियों और मन को आश्रित कर के, यह जीवात्मा विषयों को सेवन करता है–इन्द्रियों के संयोग से आत्मा विषयों को भोगता है ॥९॥

शरीर से बाहर निकलते हुए को, उस में रहते हुए को और गुणों से युक्त, गुणों को भोगते हुए भी आत्मा को अति मूर्ख जन नहीं जानते–वे देह से भिन्न आत्मसत्ता को नहीं समझते, किन्तु विवेक-युक्त जन उस को ज्ञान के नेत्रों से देखते रहते हैं ॥१०॥ यत्न करते

हुए योगीजन इस आत्मा को अपने आप में रहता हुआ देखते हैं और आत्म-विचार रहित, अज्ञानी मनुष्य यत्न—अभ्यास करते हुए भी इस आत्मा को नहीं जानते ॥११॥

जो सूर्य में विद्यमान तेज, सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर रहा है, जो तेज चन्द्र में है और जो अग्नि में है वह तेज तू मेरा ही समझ ॥१२॥ मैं पृथ्वी में प्रवेश कर के अपनी शक्ति से प्राणियों को धारण करता हूँ और रसमय चन्द्रमा बन कर मैं सब वनस्पतियों का पोषण करता हूँ ॥१३॥ मैं प्राणियों के शरीरों में रहता हुआ, उन के देह की जठराग्नि बन कर और प्राण अपान रूप हो कर, चार

प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ॥ खाद्य, चोष्य, लेह्य और स्वादु ये चार प्रकार के भोजन हैं ॥१४॥

सब मनुष्यों के हृदयों में भली प्रकार प्रविष्ट मैं हूं । मुझ से स्मृति, ज्ञान और विचार–मननपूर्वक संशय आदि का अभाव–होता है। सब वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूं, वेदान्त का कर्ता और वेदों का ज्ञाता भी मैं ही हूं ॥१५॥

इस लोक में अथवा देह में क्षर और अक्षर ये दो पुरुष हैं, आत्मा की अभिव्यक्तियां हैं, आत्म प्रकाश हैं। उन में से सब प्राणी क्षर–नाशयुक्त– हैं; प्राणियों में जो मैं गोरा, मैं काला, मैं पुष्ट, मैं

कृशादि आत्मभाव है वह नाशवान् है। और भूतों में जो एक रस शुद्ध आत्मसत्ता है वह अक्षर-अविनाशी है॥ जैसे तरंग का जल और तरंगों से नीचे का गम्भीर जल दोनों जल हैं, परन्तु तरंग का जल नाशवान् है और शान्त जल स्थायी है ऐसे ही देहों में नाम रूपादि के अहंकार युक्त पुरुष नाशवान् है और अपने शुद्ध स्वभाव में स्थित आत्मा अविनाशी है ॥१६॥

किन्तु उत्तम पुरुष इन से भिन्न है। जो तीनों लोकों में प्रवेश कर के उन का पालन अविनाशी ईश्वर करता है, वह परमात्मा कहा गया है ॥१७॥ क्योंकि मैं क्षर भाव से ऊपर हूँ और अक्षर पुरुष से भी

उत्तम हूँ इस लिए लोक में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥१८॥
जो ज्ञानी, इस प्रकार, मुझ पुरुषोत्तम को जानता है वह सर्वज्ञानी, सब भाव से, हे भारत ! मुझे ही भजता है ॥१९॥

हे पापरहित ! इस प्रकार यह परम रहस्य-युक्त शास्त्र मैं ने तुझे कहा । हे भारत ! बुद्धिमान् मनुष्य इस को समझ कर कृतकृत्य (सफल जन्म) हो जाय ॥२०॥

ओ३म् तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन-सम्वाद का पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

—o—

सोलहवां अध्याय

श्री भगवान् ने कहा, हे भारत! निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में स्थिति, दान, इन्द्रिय-दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, ॥१॥ अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्ति, अपैशुन, भूतों में दयाभाव, लोभ-लालसारहित होना, कोमलता, लज्जा, अचंचलता ॥२॥ तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्रोह न करना, अति अभिमानी न होना, ये गुण उस में होते हैं जो दैवी सम्पत् सहित जन्मा है ॥ देवों के जो गुण हों उन्हें दैवी सम्पत् कहा है। जो मनुष्य अपने ज्ञान और

कर्मयोग आदि गुणों को प्राप्त कर के मानुषी स्वभाव से ऊपर, देवरूप हो गया हो उस के ऊपर कहे चिह्न हैं। दूसरे अध्याय का स्थिरबुद्धि मनुष्य आप्त और प्रामाणिक मनुष्य है। छठे अध्याय का योगारूढ़, पूरा कर्मयोगी मनुष्य है। बारहवें अध्याय का भक्त मनुष्य, तन, मन, धन से ईश्वरार्पित, परम त्यागी और परमेश्वर का. परम प्यारा है। चौदहवें अध्याय में वर्णित गुणातीत मनुष्य प्रकृति के बन्धनों से पार पहुँचा हुआ है और इस सोलहवें अध्याय का देवगुणयुक्त मनुष्य शुद्ध देवस्वरूप है ॥३॥

हे पार्थ ! असुरों के अवगुणों के सहित जन्मे हुए मनुष्य के ये

चिह्न हैं—दम्भ—दिखावा करना, घमराड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और इसी प्रकार अज्ञान ॥४॥ पापों से मोक्ष पाने के लिये दैवी सम्पत् है; पापों के बन्धन के लिये आसुरी सम्पत् समझी गई है। हे पार्थ! तू दैवी सम्पत् सहित प्रकट हुआ है। (इस कारण) तू चिन्ता न कर ॥५॥ हे पार्थ! इस लोक में दो प्रकार की प्राणियों की सृष्टियां हैं—दैव और आसुर। दैवी सृष्टि तो विस्तार पूर्वक कही गई है अब आसुरी सृष्टि को मुझ से तू सुन ॥६॥

असुर स्वभाव वाले मनुष्य, प्रवृत्ति को और निवृत्ति को नहीं जाना करते—असुरों में आचार, धर्म, कर्तव्य-पालन, सेवा, हितसाधन

आदि कर्मों की प्रवृत्ति नहीं होती और न ही अधर्म के कर्मों से हटना-निवृत्ति ही होती है। उन में न पवित्रता, न आचार और न ही सत्य पाया जाता है ॥७॥ वे जगत् को असत्य, निराधार और ईश्वररहित कहते हैं। केवल इस के और उस के मेल से जगत् उत्पन्न हुआ है, विषय-वासना के अतिरिक्त दूसरा, इस के उत्पन्न होने का कारण क्या है? ऐसा वे कहा करते हैं ॥८॥

ऊपर कही इस धारणा को पकड़ कर, नष्ट आत्मा वाले, अल्प-बुद्धि, घोर कर्मों के करने वाले, जगत् के शत्रु, जगत् के नाश के लिए तैयार हो जाते हैं ॥९॥ वे दम्भ, मान और अहंकार से युक्त अपवित्र

व्रतोंवाले, कठिनता से पूर्ण होने वाली कामना का आश्रय ले कर और मोह से (अज्ञान से) झूठे विचारों को ग्रहण करते रहते हैं अथवा कामों को करते हैं ॥१०॥ प्रलय पर्यन्त चलने वाली, अपरिमित चिन्ता को आश्रय किए हुए, कामनाओं के उपभोग में ही तत्पर, कामनाओं को तृप्त करना ही जीवनोद्देश है, ऐसे निश्चय वाले ॥११॥ आशाओं के सैंकड़ों पाशों में फंसे हुए, काम और क्रोध में परायण जन, कामनाओं के भोग के लिए अन्याय से धनों के संचयों को करना चाहते हैं ॥१२॥

उन को रात दिन यही धुन लगी रहती है कि—आज यह मैं ने प्राप्त कर लिया है, आगे को इस मनोरथ को मैं प्राप्त कर लूंगा। यह

धन तो मेरे पास है और फिर यह भी धन मेरा हो जायगा ॥१३॥ यह शत्रु तो मैं ने मार डाला है और दूसरे शत्रुओं को भी हनन कर दूंगा। मैं ईश्वर (समर्थ) हूँ, मैं सुखों का भोक्ता हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं बलवान् हूँ, मैं सुखी हूँ ॥१४॥ मैं (धन-जन आदि से) सम्पन्न हूँ, मैं कुलीन हूँ, कौन दूसरा मेरे जैसा है। मैं यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और मोद मनाऊंगा, इस प्रकार अज्ञान से बहुत मोहे हुए ॥१५॥ दुविधा के कारण भ्रान्तियों में पड़े, मोह के जाल में घिरे हुए और कामना के भोगों में निमग्न, अपवित्र नरक में जा गिरते हैं, वे मर कर घोर नरक में जा पड़ते हैं ॥१६॥

वे अपने को श्रेष्ठ समझने वाले, हठीले और धन के मद में मतवाले दम्भ से, विधिरहित, नाम मात्र के यजन किया करते हैं ॥१७॥ अहंकार, बल, घमराड, कामना और क्रोध को आश्रय बनाए हुए, निन्दक लोक, अपने और दूसरों के देहों में रहने वाले मुझ से द्वेष करते हुए रहते हैं ॥१८॥ उन द्वेषी, क्रूर, अशुभ और नीच मनुष्यों को मैं संसार की आसुरी योनियों में बार बार फैंकता रहता हूँ ॥१६॥ हे कुन्ती के पुत्र ! जन्म-जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त हुए, वे मूढ़ जन, मुझे न पा कर ही, तब नीच गति को पाते रहते हैं ॥२०॥

आत्मा का नाश करने वाले, नरक के तीन प्रकार के द्वार हैं—

काम, क्रोध, और लोभ; (इस लिए विवेकी को चाहिये कि) इन तीनों को छोड़ दे ॥२१॥ हे कौन्तेय ! अन्धकार के इन तीनों द्वारों से बचा हुआ मनुष्य, अपने आत्मा का कल्याण करता है और तत्पश्चात् परम गति को पाता है ॥२२॥

जो जन शास्त्र की बनाई हुई विधि को छोड़ कर स्वेच्छा से काम करता है (नियम, मर्यादा, न्याय और सत्य आदि पर ध्यान तक नहीं देता) वह सिद्धि को नहीं प्राप्त करता, न सुख को पाता है और न ही परम गति को ॥२३॥ इस लिए कार्याकार्य की व्यवस्था (निर्णय) में तुझे शास्त्र प्रमाण है। शास्त्र की कही हुई विधि जान कर यहां

तुझ को कर्म करना ही उचित है ॥२४॥

ओ३म् तत्सत् इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन सम्वाद का दैवासुरसम्पद् विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

——o——

सत्रहवां अध्याय

अर्जुन ने पूछा, हे श्री कृष्ण! जो श्रद्धावान् जन शास्त्र की विधि को छोड़ कर यज्ञ करते हैं उन की स्थिति कैसी होती है–सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी? ॥१॥

श्री भगवान् ने कहा, मनुष्य में स्वभाव से ही तीन प्रकार की श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और इसी प्रकार तामसी हुआ करती है, वह तू सुन ॥२॥ हे भारत ! सब (मनुष्य-मात्र) की श्रद्धा स्वभाव के अनुसार होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय है। जो जैसी श्रद्धावाला है (जो जिस श्रद्धा में रहता है) वही वह है ॥ सत्य को धारण–ग्रहण करने की मनुष्य में जो रुचि, प्रीति और प्रबल भावना होती है उस का नाम श्रद्धा है। इस लिए धर्म में, आत्मा में, परमात्मा में और शुभ में उत्तम रुचि, प्रीति और भावना को श्रद्धा कहते हैं ॥३॥

सत्त्वगुणी लोग देवों का पूजन करते हैं, रजोगुणी यक्षों और

राक्षसों का पूजन करते हैं और दूसरे तामस जन प्रेतों और भूतगणों की पूजा करते हैं ॥४॥

दम्भ और अहंकार युक्त, कामना और राग के बल से प्रेरित जो जन शास्त्र विरुद्ध घोर तप तपा करते हैं ॥५॥ वे विवेकहीन, शरीर में रहने वाले भूत समूह को (जीवित अवयवों को) और इसी प्रकार भीतर शरीर में रहने वाले मुझ को कष्ट देते हैं। उन को असुर, निश्चययुक्त, तू जान ॥६॥

सब मनुष्यों को भोजन भी तीन प्रकार का प्रिय होता है, ऐसे ही यज्ञ, तप और दान भी। उन के इस भेद को तू मुझ से श्रवण

कर ॥७॥ आयु (जीवन), शक्ति, बल, आरोग्य, सुख (प्रसन्नता) और रुचि को बढ़ाने वाले, रसीले (स्वादुतर), चिकने, पुष्टिकारक और मन के अनुकूल जो भोजन होते हैं वे सत्त्वगुणियों को प्यारे हुआ करते हैं ॥८॥ बहुत कड़वे, बहुत खट्टे, अधिक नमकीन, अति उष्ण, अति तीखे, अति रूखे और दाहकारक भोजन रजोगुणियों को प्रिय होते हैं और वे दुःख, शोक और रोग देने वाले हुआ करते हैं ॥९॥ पहर भर से पड़ा हुआ, बहुत ठण्डा, जिस का रस बदल गया हो, दुर्गन्धित, बासी, जूठा और जो मैला हो वह भोजन तमोगुणियों को प्यारा होता है ॥ ऊपर कहे तीनों प्रकार के भोजनों की पहचान बड़ी सरल

है, सच्ची है और सर्वमान्य है ॥१०॥

यज्ञ के फल की कामना न करने वालों द्वारा जो यज्ञ विधिसहित, कर्तव्य समझ कर और मन को एकाग्र कर के किया जाता है वह सात्त्विक है ॥११॥ परन्तु, हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ फल का उद्देश्य रख कर और दिखावे के लिए किया जाता है उस यज्ञ को तू राजस समझ ॥१२॥ जो यज्ञ विधिरहित है, जिस में अन्नदान नहीं है, जो मंत्रों के उच्चारण से नहीं किया गया है, जो दक्षिणाहीन है, जो श्रद्धा-रहित है उस यज्ञ को तामस कहा जाता है ॥१३॥

देव, ईश्वर, द्विज, गुरु और बुद्धिमान् का पूजन करना, पवित्र

रहना (मन, तन, वस्त्र, स्थानादि को शुद्ध रखना), सरलता, ब्रह्मचर्य को पालन करना और अहिंसा यह शारीरिक तप कहा जाता है ॥१४॥ जो मन को न व्याकुल करने वाला, सच्चा, प्यारा और हितकर वचन बोलना है और इसी प्रकार जो स्वाध्याय का करना है (उत्तम ग्रन्थों का पाठ है) वह वाचिक तप कहलाता है ॥१५॥ मन की प्रसन्नता, मुख मण्डल का प्यारापन, मौन (अधिक न बोलना), आत्मा का वशीकार, भावों की शुद्धि (अपने भीतर के विचारों की पवित्रता अथवा स्वभाव की निर्मलता) यह मानस तप कहा जाता है ॥१६॥

योगयुक्त, फल की इच्छा न रखने वाले मनुष्यों द्वारा जो तीन

प्रकार का तप परम श्रद्धा से तपा गया हो उसे सात्त्विक तप कहा करते हैं ॥१७॥ ऐसे ही जो तप सत्कार के लिए, मान के लिए और पूजा कराने के वास्ते तथा दम्भ से किया जाता है वह तप इस लोक में नाश होने वाला–अस्थिर–राजस कहा गया है ॥१८॥

जो तप मूर्खपन के दुराग्रह से, आत्मा को पीड़ा दे कर और दूसरे मनुष्य को उखाड़ने व मारने के लिए किया जाता है वह तप तामस बताया गया है ॥१६॥

देना चाहिए ऐसा समझ कर जो दान, जिस ने पहले अपने ऊपर उपकार नहीं किया, उस को दिया जाता है और देश, काल तथा

पात्र को देख कर दिया जाता है वह दान सात्त्विक है ॥ ऐसे देश में दान देना जहां अन्न की, विश्राम स्थान की और विद्यादि की न्यूनता हो—यह देश देख कर दान देना कहाता है। काल देख कर देने का तात्पर्य यह है कि भूख के समय अन्न, उष्ण काल में जल तथा श्रान्त को आश्रय, शीत काल में वस्त्रादि और रात्रि आदि के समय विश्राम स्थान देना उचित दान है। ऐसे जन को दान देना जो आलसी न हो, प्रमादी न हो, दुराचारी न हो और द्रव्य का दुरुपयोग न करे तथा साथ ही सुशील, सत्कर्मी और लेने का अधिकारी हो—यह पात्र देख कर दान देना है। दीन, अपाहज और अनाथ जन भी दान लेने के

पात्र हैं ॥२०॥

परन्तु जो दान बदला चुका देने के लिए दिया जाता है, इस का फिर फल मिले इस उद्देश्य से दिया जाता है और कष्ट से सड़ते, कुढ़ते हुए दिया जाता है वह दान राजस कहा गया है ॥२१॥ जो दान देश-काल का विचार किए बिना ही दिया जाता है, कुपात्रों को दिया जाता है, निरादर और तिरस्कार कर के दिया जाता है वह दान तामस कहा है ॥२२॥

ओं, तत्, सत् ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का निर्देश, वर्णन व संकेत किया गया है। उस ब्रह्म से पूर्वकाल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञ

रचे गये ॥२३॥ इस लिए 'ओं' ऐसा कह कर ब्रह्मवादियों की विधान में कही हुई यज्ञ, दान, तप और क्रियाएं सदा होती रहती हैं ॥२४॥ 'तत्' ऐसा कह कर, फल की कामना न कर के यज्ञ, तप, क्रियाएं और नाना प्रकार की दान क्रियाएं मोक्ष को चाहने वाले किया करते हैं ॥२५॥

हे पार्थ ! 'सत्' ऐसा शब्द, सत्य भाव में (परम आस्तिक्य भाव में) श्रेष्ठता में प्रयुक्त किया जाता है और ऐसे ही उत्तम कर्मों में भी 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है ॥२६॥ यज्ञ में, तप में और दान में जो स्थिरता है वह भी 'सत्' कही जाती है। और इसी प्रकार कर्म

तदर्थं है (सर्व कर्म उस परमेश्वर के समर्पण है यह भी) 'सत्' ऐसा कहा जाता है ॥ परमेश्वर सत्य है, सर्वज्ञ है और सभी शुभ का प्रेरक है। फल की कामना न रख कर यज्ञ, तप, दान, सेवा और उपकार आदि कर्मों को करना तदर्थ (परमेश्वरार्थ) कर्म है। परमेश्वरार्पित कर्मों को कर देने से कर्मों के कर्ता को मोक्ष की प्राप्ति और सत्य की उपलब्धि होती है ॥२७॥

हे पार्थ! अश्रद्धा से जो हवन किया जाता है, दान दिया गया है, तप तपा गया है और कर्म किया गया है वह सब असत् (नहीं है) ऐसा कहा जाता है, वह कर्म न इस जन्म में कुछ काम का है

और न परलोक में काम आता है। श्रद्धा बिना किए गए सब शुभ कर्म व्यर्थ हो जाते हैं ॥२८॥

ओ३म् तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन-सम्वाद का श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ।

अठारहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा, हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! संन्यास का और त्याग का, पृथक्-पृथक् रहस्य मैं जानना चाहता हूँ ॥१॥

श्री भगवान् ने कहा, सांसारिक पदार्थों की कामना से उत्पन्न

हुए कर्मों के त्याग को, ज्ञानी लोग संन्यास नाम से जानते हैं और सब कर्मों के फलों के त्याग को बुद्धिमान् लोग त्याग कहते हैं ॥२॥ कई एक विचारवान् जन कहते हैं कि दोष (पाप) की भांति कर्म त्याग देने योग्य है। और दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप और कर्तव्य कर्म त्याग देने योग्य नहीं हैं ॥३॥

हे भरतश्रेष्ठ ! वहां त्याग के सम्बन्ध में तू मेरा निश्चित सिद्धान्त सुन। हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग निश्चयपूर्वक तीन प्रकार का कहा गया है ॥४॥ यज्ञ, दान, तप और कर्तव्य कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं, किन्तु करने योग्य ही हैं। यज्ञ करना, दान देना और तप का करना ये कर्म

बुद्धिमानों को भी पवित्र करने वाले हैं ॥५॥ हे पार्थ ! परन्तु ये यज्ञादि कर्म भी आसक्ति और फलों की कामना को त्याग कर करने चाहिएं, यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है ॥६॥

स्वाभाविक कर्म, माता-पिता आदि के सम्बन्ध का कर्म तथा कर्तव्य कर्म नियत कर्म हैं। ऐसे नियत कर्म का त्याग उचित नहीं है। अज्ञानवश, उस नियत कर्म को त्याग देना तामस त्याग वर्णन किया है ॥७॥ जो जन कर्म करने को दुःखरूप जान कर और काया के क्लेश के भय से त्यागे वह इस राजस त्याग को कर के त्याग के फल को नहीं प्राप्त करता ॥८॥ हे अर्जुन ! करना ही चाहिए, ऐसा जान कर

जो नियत कर्म किया जाता है, कर्म में आसक्ति और फल-कामना को त्याग कर जो कर्म किया जाता है वह कर्म करना सात्त्विकत्याग ही माना गया है॥९॥

जिस ने अपने संशय छेदन कर डाले हैं, ऐसा शुद्ध भाव से युक्त, बुद्धिमान् त्यागी, दुःखकर कर्म से द्वेष (घृणा) नहीं करता और सुख-दायक कर्म में आसक्त नहीं होता ॥१०॥ सर्वथा कर्मों को त्याग देना देहधारी से, निश्चय से, नहीं हो सकता परन्तु जो जन कर्मों के फलों का त्यागी है वही त्यागी कहा जाता है ॥११॥

जो जन कर्म करते हुए फल को उद्देश्य बना लेते हैं [उन] अत्यागियों को मरने के अनन्तर अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित—यह तीन

प्रकार के कर्मों का फल मिलता है, परन्तु फल के त्यागियों को यह कहीं भी नहीं मिलता। इष्ट फल है–अभिलषित, शुभ और सुखकर; अनिष्ट फल है–प्रतिकूल, अशुभ और दुःखदायक; और मिश्रित फल है–इष्ट अनिष्ट दोनों से मिला-जुला। कर्मयोगी को ये तीनों प्रकार के कर्मफल नहीं मिलते। वह निष्काम भाव से किये गये कर्मों के कारण परमेश्वर के परम धाम को प्राप्त कर लेता है ॥१२॥

हे महाबाहो! सब कर्मों की सिद्धि के लिए, पूर्ण निर्णय किये हुए सांख्य-शास्त्र में, ये पांच कारण कहे गये हैं, वे तू मुझ से श्रवण कर ॥१३॥ अधिष्ठान (क्षेत्र), कर्ता, करण–भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन

(इन्द्रियां आदि), नाना चेष्टाएं (कर्म करने की वासना-जन्य प्रवृत्तियां) और यहां पांचवां कारण है दैव—ईश्वरीय नियम, विधाता का विधान ॥१४॥ शरीर, वाणी और मन से न्याययुक्त, अथवा अन्याय का जो भी कर्म मनुष्य करता है उस के पांच ही कारण होते हैं ॥१५॥ वहां ऐसे पांच कारण होने पर असंस्कारयुक्त बुद्धि से जो जन केवल अपने आत्मा को ही कर्मों का कर्ता जानता है वह दुर्मति कुछ भी नहीं जानता ॥१६॥

जिस जन में अहंकार भाव नहीं है और जिस की बुद्धि [राग-द्वेष, पक्षपात और वैर आदि भावों से] लिप्त नहीं हो जाती है वह इन

सब लोगों का हनन कर के भी, नहीं हनन करता है और न कर्म से बंध जाता है। ऐसा स्वार्थ-रहित, निरभिमानी और विमल-बुद्धि मनुष्य, केवल ईश्वरीय नियम में चलता हुआ, कर्तव्य कर्म ही किया करता है। उस में क्रूरता और हिंसा का भाव नहीं होता। वह अग्नि, वायु, जलादि देवों की भांति स्वभाव में वर्तता है ॥१७॥

ज्ञान, ज्ञेय, और परिज्ञाता—यह तीन प्रकार की कर्मप्रेरणा है। कर्म, करण–साधन और कर्ता यह तीन प्रकार का कर्म संग्रह—कर्म भली भांति ग्रहण करने के अंग हैं॥ ज्ञानवान् को ज्ञाता कहा जाता है। वह जिस वस्तु को जानता है वह ज्ञेय कही जाती है और उस

ज्ञाता को ज्ञेय वस्तु की जो प्रतीति होती है वह ज्ञान है। कर्म करने की प्रेरणा में–प्रवृत्ति में–ये तीन साधन हैं। कर्म करने वाला कर्ता कहा जाता है। मन सहित उस की इन्द्रियां आदि कर्म करने के साधन–करण कहे जाते हैं और जो कुछ शुभाशुभ किया जाय वह कर्म है। ये तीन कर्म करने के अंग हैं ॥१८॥

ज्ञान, कर्म और कर्ता, गुणों के भेद से तीन तीन प्रकार के ही सांख्य शास्त्र में कहे जाते हैं। उन को भी मुझ से तू ठीक ठीक सुन ॥१९॥ जिस ज्ञान से, सब प्राणियों में और नाना भावों में विभक्त वस्तुओं में एक अविनाशी और अखण्ड परमेश्वर को मनुष्य देखता

है उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान ॥२०॥ सब प्राणियों में और वस्तुओं में भिन्न भिन्न प्रकार के भावों को--वस्तुओं के होने को–पृथक्पन से जो ज्ञान जानता है वह ज्ञान तू राजस जान ॥२१॥ परन्तु जो बिना कारण, एक ही कार्य में सर्व प्रकार से मग्न है, जो सार रहित है और अति तुच्छ है वह ज्ञान तामस कहा गया है ॥२२॥

फल की प्राप्ति की इच्छा से रहित मनुष्य से, राग-द्वेष के बिना, आसक्ति रहित किया हुआ जो नियत कर्म है वह सात्त्विक कहा जाता है ॥२३॥ परन्तु जो कर्मफल-भोग की कामना करने वाले मनुष्य द्वारा अहंकार सहित, (मैं ही करने वाला हूं इस भाव सहित) बड़े क्लेश,

कष्ट पूर्वक किया जाता है वह राजस कहा है ॥२४॥ जो कर्म परिणाम को, हानि को और अपने सामर्थ्य को न देख कर, बिना विचारे, मोह, अज्ञानवश किया जाता है वह तामस कहा जाता है ॥२५॥

जो कर्म करने वाला मनुष्य कर्मों की आसक्ति से मुक्त है, अहंकार-रहित है, धैर्य और उत्साह सहित है और जो सफलतां तथा निष्फलता में निर्विकार—हर्ष शोक रहित है वह कर्ता सात्त्विक कहलाता है ॥२६॥ जो कर्म करने वाला रागी है, कर्मों के फलों की लालसा रखता है, हिंसक (वैर बुद्धि युक्त) है, अपवित्र है और हर्ष तथा शोकवान् है वह कर्ता राजस वर्णन किया गया है ॥२७॥ जो कर्मकर्ता अव्यवस्थित-

चित्त (अनमना) असावधान है, असभ्य (कुसंस्कारी) है, हठीला है, धूर्त है, कठोर स्वभाव वाला है, आलसी है, विषाद—खेद युक्त है और दीर्घ सूत्री है (बहुत लम्बे विचारों में ही रहने वाला है) वह कर्ता तामस कहा जाता है ॥२८॥

हे धनंजय! गुणों की दृष्टि से बुद्धि के और धृति के भी पृथक् पृथक् पन से कहे जाते हुए, तीन प्रकार के भेद तू श्रवण कर ॥२९॥ जो बुद्धि प्रवृत्ति को (कर्म करने में यत्नशील होने को), निवृत्ति को (कर्म करने से हट जाने को), करने योग्य को, न करने योग्य को, भय को, निर्भयपन को, कर्मों के बन्धन को और कर्म-बन्धन से मोक्ष को,

जानती है, हे अर्जुन ! वह बुद्धि सात्त्विकी है ॥३०॥ हे पार्थ ! जिस बुद्धि से मनुष्य धर्म को, अधर्म को, कार्य को और अकार्य को ठीक ठीक नहीं जानता है(पूर्णरूप से नहीं समझता है) वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥ हे पार्थ ! जो बुद्धि अन्धकार, अज्ञान से घिरी हुई, अधर्म को धर्म मानती है और सब पदार्थों को विपरीत समझती है वह बुद्धि तामसी है ॥३२॥

हे पार्थ ! जिस योग द्वारा साधित, एक भावना युक्त धैर्य से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाएं धारण (वश में) की जाती हैं, वह धृति सात्त्विकी है ॥३३॥ परन्तु जिस धृति से मनुष्य, कर्मफलेच्छा से प्रेरित

हो कर धर्म, कामना और धन को (अपने स्वार्थों को) धारण करता है (बड़ी दृढ़ता से पकड़े रहता है) वह धृति राजसी है ॥३४॥ जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य नींद को, भय को, शोक को, खेद (मानस दुःख) को और ऐसे ही घमराड को नहीं छोड़ता वह धृति, हे पार्थ ! तामसी है ॥३५॥

हे भरतर्षभ ! अब तीन प्रकार का सुख तू मुझ से सुन ! जिस में अभ्यास से मनुष्य मग्न रहता है और दुःख के अन्त को पहुँच जाता है ॥३६॥ जो सुख पहले (आरम्भ में) विष की भांति कड़वा है और परिणाम में अमृत समान है तथा जो आत्मबुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न

हुआ है वह सुख सात्त्विक कहा है ॥३७॥

विषयों और इन्द्रियों के संयोग से, जो सुख आरम्भ में अमृत समान प्रतीत होता है और परिणाम में विष की भाँति हानि करता है वह सुख राजस कहा गया है ॥३८॥ जो सुख आरम्भ में और परिणाम पर भी आत्मा को मोहने (भ्रान्ति में डालने) वाला है, नींद, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न हुआ है वह सुख तामस कहा गया है। अंगों में, इन्द्रियों में, जो शिथिलपन और कर्म न करने का झुकाव हो जाया करता है वह आलस्य है। कर्तव्याकर्तव्य का अविवेक और व्यर्थ कार्यों में आसक्ति प्रमाद कहा जाता है ॥३९॥

पृथ्वी पर, स्वर्ग में और देवों में ऐसा कोई भी प्राणी (पदार्थ व भाव) नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न हुए इन तीन गुणों से रहित हो। सारी सृष्टि और सभी प्राणी इन तीन गुणों में रह रहे हैं ॥४०॥

हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्रों के कर्म भी, स्वभाव से प्रकट हुए गुणों से पृथक् पृथक् किए गए हैं॥ जो जो ज्ञानादि गुण, मनुष्य बालकाल में शिक्षा-दीक्षा द्वारा अपने में संचित कर लेता है उन को जब युवावस्था में बर्ताव में, क्रिया में तथा व्यवहार में लाता है तो वे गुण कर्म बन जाते हैं। अपने ज्ञान और शूरवीरता आदि गुणों का बार बार कर्म में उपयोग और अनुशीलन करने से

उन को बार-बार क्रियात्मक जीवन में बसाने से, उन गुण कर्मों के अनुसार मनुष्य का वैसा ही स्वभाव बन जाया करता है। गुणों के अनुसार बार-बार कर्म करने की प्रवृत्ति ही स्वभाव है ॥४१॥

शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा और ऐसे ही सरलता, ज्ञान, विशेषज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मणों के स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म हैं ॥४२॥ शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध में पीछे को न भागना, दान देना और शासकपन का भाव ये क्षत्रियों के स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म हैं ॥४३॥ खेती का धन्धा करना, गायें पाल कर जीविका चलाना और देश-देशान्तर में व्यापार करना ये वैश्यों के स्वभाव से
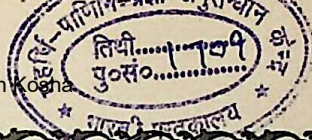
उत्पन्न कर्म हैं। सेवारूप परिश्रम करना शूद्र का भी स्वभाव से उत्पन्न हुआ कर्म है। जिस परिश्रमी से, यह काम कैसे होगा, कब होगा ऐसी चिन्ता बह जाती है, जिस को कोई भी कष्ट-साध्य श्रम करने में झिझक नहीं होती और जो अपने परिश्रम के कौशल से जाति के जनों की चिन्ता को उन से दूर बहा डालता है. वह कर्म-कुशल जन, शूद्र है। शूद्र शब्द का यही सच्चा अर्थ है ॥४४॥

अपने अपने कर्म में लगा हुआ प्रत्येक मनुष्य भली प्रकार सफलता को प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में रत रह कर मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करता है वह तू सुन ॥४५॥ जिस परमेश्वर से सब

प्राणियों की प्रवृत्ति हुई है (जिस सर्वशक्तिमान् भगवान् द्वारा सब प्राणियों का जन्म, मरण, कर्मफल-भोग का नियम चलता है अथवा जिस से प्रथम क्रिया का संचार हुआ है) और जिस ईश्वर ने इस विश्व का विस्तार किया है उस को अपने कर्मों से पूज कर मनुष्य सिद्धि को पाया करता है ॥४६॥

दूसरे के अच्छी प्रकार पालन किये हुए कर्तव्य से अपना विगुण (न्यूनगुण वाला) कर्तव्य भी अधिक अच्छा है। स्वभाव से नियत किए गए कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं पाता। अपने आवश्यक कर्तव्य-कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप-दोष से लिप्त नहीं

होता। स्वकर्तव्य-पालन तो परमेश्वर का पूजन ही है ॥४७॥ हे कौन्तेय ! स्वभाव के साथ उत्पन्न हुआ कर्तव्य-कर्म दोष-सहित होने पर भी मनुष्य न छोड़े, उसे करता ही जाय। निश्चय से, सब कर्म, दोष से ऐसे घिरे हुए होते हैं जैसे धूएं से अग्नि घिरी हुई होती है ॥४८॥

जो मनुष्य सब कर्मों में असक्त-बुद्धि बना रहता है, जो आत्म-संयमी है और जो तृष्णा-रहित है वह कर्मयोगरूप संन्यास से परम निष्कर्मता की सिद्धि को पाता है ॥४६॥ हे कुन्ती के पुत्र ! सिद्धि को प्राप्त कर लेने पर मनुष्य जैसे ब्रह्म को प्राप्त करता है वह संक्षेप से तू

मुझ से समझ ले। वह ज्ञान की परम उत्तम स्थिति है ॥५०॥

जो शुद्ध बुद्धि से युक्त मनुष्य, धैर्य से आत्मा को वश में ला कर, शब्दादि पांचों विषयों को त्याग कर और राग-द्वेष को छोड़ कर ॥५१॥ एकांत सेवी है, थोड़ा अथवा हलका खाने वाला है; वाणी, काया और मन को वश में किये हुए है, नित्य ध्यान-योग में परायण रहता है, सम्यक् प्रकार से वैराग्य को धारण किए हुए है ॥५२॥ अहंकार को, बल (दूसरे पर व्यर्थ बल उपयोग) को, घमण्ड को, कामना को, क्रोध को और परिग्रह–लोभयुक्त संग्रह को भली भांति छोड़ कर जो ममता-रहित है, शांत है वह ब्रह्मरूप ही बन जाता है–वह ब्रह्म को प्राप्त

हो जाता है ॥५३॥

ब्रह्मभाव को प्राप्त, प्रसन्नात्मा मनुष्य न चिन्ता करता है न कामना करता है। वह सब प्राणियों में समभाव से रहता है और मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥५४॥ यथार्थता से, जैसा अथवा जितना मैं हूँ उस को भक्ति से ही मनुष्य जाना करता है। तब मुझे तत्त्व से जान कर उस के पश्चात् मुझ में ही प्रवेश कर जाता है ॥५५॥

मेरा आश्रय ग्रहण करने वाला, सदा सब कर्मों को भी करता हुआ, मेरी कृपा से सदा रहने वाले अविनाशी पद को प्राप्त हो जाता है ॥५६॥ इस कारण, अपने सब कर्मों को मन से मुझ में त्याग

(समर्पण) कर के और कर्मयोग का आश्रय ले कर तू मुझ में निरन्तर परायण हो ॥५७॥ निरन्तर मुझ में दत्तचित्त होने पर, मेरी कृपा से तू सब कठिनाइयों को तर जायगा (तू सब पापों से पार पा लेगा)। परन्तु यदि अहंकार के कारण मेरे कथन को तू नहीं सुनेगा तो तू नष्ट हो जायगा, तो तेरे दोनों लोक बिगड़ जायेंगे ॥५८॥

यदि अहंकार का आश्रय ले कर तू ऐसा मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, तो तेरा यह निश्चय झूठा है। तेरा स्वभाव तुझ को अवश्य ही युद्ध में लगा देगा ॥५९॥ हे कुन्तीपुत्र! अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म से बांधा हुआ तू मोह (अज्ञान) से यदि स्वकर्म

को करना नहीं चाहता है तो भी उस को तू अवश्य ही करेगा ॥६०॥

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय के स्थान में रहता है और नियम के यंत्र पर चढ़े हुए सब प्राणियों को अपनी शक्ति से घुमा रहा है—सब प्राणी उस के नियत किये हुए नियम में जन्म-मरण आदि कर्म-फल भोग रहे हैं ॥६१॥ हे भरत ! सर्वभाव से (मन, वचन, काया से अथवा अनन्य भावना से) तू उसी परमेश्वर की शरण ले। उस की कृपा से तू परम शान्ति को और सदा रहने वाले स्थान को (मोक्ष धाम को) प्राप्त हो जायगा ॥६२॥

इस प्रकार गुप्त से गुप्त ज्ञान मैं ने तुझे कहा, रहस्यमय ज्ञान

तुझे बताया। इस सारे को भली भांति विचार कर जैसा तू चाहता है (जो तुझे अच्छा प्रतीत हो) वैसा कर ॥६३॥ फिर सर्व प्रकार से गोपनीय मेरा परम वचन तू सुन। तू मेरा अत्यन्त प्यारा है इस से तेरे हित की बात तुझे मैं कहूंगा ॥६४॥

मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजक हो जा और मुझ को ही नमस्कार कर, इस प्रकार तू मुझे ही पायेगा। तेरे सम्मुख मैं यह सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ। तू मुझे प्रिय है ॥६५॥ सब साम्प्रदायिक धर्मों को त्याग कर एक मेरी ही शरण में तू आ जा। मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा। चिन्ता न कर ॥६६॥

जो तपस्वी नहीं है, जो भगवद्भक्त नहीं है, जो विनीत नहीं है और जो मेरी निन्दा करता है उसे यह ज्ञान तुझे कभी भी नहीं कहना चाहिए ॥६७॥ जो जन इस परम रहस्यमय ज्ञान को मेरे भक्तों में वर्णन करेगा, वह मुझ में परम भक्ति कर के निःसंदेह मुझे ही प्राप्त हो जायगा ॥६८॥

उस से बढ़ कर, मनुष्यों में, कोई भी मेरा अत्यन्त प्रियकारी नहीं और पृथ्वी पर, उस की अपेक्षा दूसरा कोई भी मुझे प्यारा नहीं होगा ॥६९॥

हमारे इस धर्ममय सम्वाद को जो जन अध्ययन करेगा उस के

उस ज्ञान-यज्ञ से मैं पूजा जाऊँगा, ऐसा मेरा मत है ॥७०॥ और जो श्रद्धालु और निन्दा न करने वाला मनुष्य इस को सुनेगा भी, वह भी, पाप से मुक्त हो कर पुण्यकर्मियों के शुभ लोकों को प्राप्त कर लेगा ॥७१॥

महाराज ने पूछा—हे पार्थ ! तू ने क्या एकाग्र चित्त से मेरा यह उपदेश सुना है ? हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानरूप गाढ-मोह सर्वथा नष्ट हो गया है ? ॥७२॥

अर्जुन ने उत्तर दिया, हे अविनाशिन् ! तेरी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है, स्मृति मैं ने प्राप्त कर ली है (मेरी बुद्धि ठीक हो गई
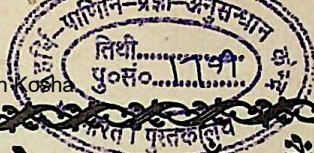
है) मैं सन्देह-रहित हो गया हूँ और स्वस्थ हो कर खड़ा हूं। मैं तेरे वचन का पालन करूंगा ॥७३॥

संजय ने कहा, हे धृतराष्ट्र! वासुदेव का और महात्मा अर्जुन का रोमांचित करने वाला यह अद्भुत सम्वाद मैं ने सुना ॥७४॥ यह परम गोपनीय योग, व्यासदेव की कृपा से, स्वयं साक्षात्, कथन करते हुए योगेश्वर श्री कृष्ण से मैं ने सुना है ॥७५॥ हे राजन्! केशव और अर्जुन के इस आश्चर्य-जनक पवित्र सम्वाद को भली भाँति स्मरण कर मैं बार-बार प्रसन्न होता हूँ ॥७६॥ और हरि के उस अद्भुत रूप को भली प्रकार बार-बार स्मरण कर के, हे राजन्! मुझे बड़ा आश्चर्य होता

है और मैं बार-बार हर्षित होता हूँ ॥७७॥ जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण हैं और धनुर्धारी अर्जुन हैं वहीं श्री लक्ष्मी है, वहीं विजय है, वहीं ऐश्वर्य है और वहीं निश्चल नीति है, ऐसा मेरा मत है ॥७८॥

ओ३म् तत्सत्

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूप उपनिषद् ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन सम्वाद का मोक्ष-सन्यास-योग नामक अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

—o—
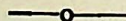
मिलने का पता :—

१. श्रीरामशरणम्,

८, रिंग रोड, लाजपत नगर, नई दिल्ली-११००२४

२. भगवान दास एण्ड कम्पनी,

कश्मीरी गेट, दिल्ली-११०००६